गुरु-शिष्य-संवाद ।

(ब्रह्मविद्या)

श्रीमत्स्वामी सन्तदास बाबाजी व्रजविदेही महन्त
महाराजप्रदत्त उपदेशों का कियदंश ।

तदीय शिष्य दौलतपुर कालिज के प्रोफ़ेसर,
श्रीसुधीरगोपाल मुखोपाध्याय, एम० ए०,
द्वारा संगृहीत तथा प्रकाशित ।

(हिन्दी-संस्करण)

मुद्रक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

सन् १९२७ ई०

[मूल्य ११) रु०

पुस्तक मिलने का पताः—

१—मैनेजर, निम्बार्क आश्रम, केमारवन, वृन्दवन ।
२—मैनेजर, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद ।
३—मैनेजर, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, बनारस ।

Printed by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

ॐ श्रीगुरवे नमः

ॐ हरिः

निवेदन।

१३३० बँगला साल की दुर्गापूजा की छुट्टी में, मैं श्री श्री गुरुदेव के दर्शन करने के निमित्त श्रीवृन्दावन-आश्रम गया था। किसी किसी आध्यात्मिक विषय पर मेरे मन में इसके पूर्व ही, सन्देह उपस्थित हुआ था। श्रीश्रीगुरुदेव के समीप मैंने तत्सम्बन्धी प्रश्न उत्थापित किया। मेरे प्रश्न-समूह के उत्तर देकर, यह जानने के अभिप्राय से कि, मैंने उन सब उत्तरों को भली भाँति समझा है अथवा नहीं, उन्होंने उन सब उत्तरों को लिपि-बद्ध कर उनको दिखलाने का आदेश किया। उन प्रश्नोत्तरों को लिपि-बद्ध करके उस लेख के मेरे सुनाने पर उन्होंने कहा, "यह तो कुछ भी नहीं हुआ, तुम समझ नहीं सके। तुम्हारे प्रश्न दुर्बोध्य-विषय-सम्बन्धी हैं; इनके उत्तर मैं पुनः बोलता हूँ, तुम लिखते चलो। इस प्रकार लिख रखने से, उन्हें पढ़ कर चिन्तन करने पर, तुम स्वयं समझ सकोगे एवं अपर मनुष्यों के मन में इन प्रश्नों के उदय होने पर, वे भी तुम्हारा लेख पढ़कर समझ सकेंगे। उनके इस आदेश के अनुसार अपने प्रश्न-समूह को एकत्रित कर मैंने प्रथम प्रश्न लिपिबद्ध किया। तदनन्तर वे उत्तर देते रहे और मैं लिखता रहा। इस भाँति दो तीन प्रश्नोत्तरों के लिखित होने के पश्चात् मैं कलकत्ता लौटने के लिये बाध्य

हुआ। उस समय नूतन एक प्रश्न-मात्र लिखित हुआ था। उसका उत्तर देना उन्होंने आरम्भ किया था, परन्तु उस समय पर्यन्त वह समाप्त नहीं हुआ था। मेरे अपरापर कोई कोई गुरु-भ्राता संग में बैठ कर उन सब उत्तरों को श्रवण किया करते थे; कलकत्ता लौटने का समय उपस्थित होने पर, मैंने अपने गुरु-भ्राता श्रीयुक्त धनञ्जयदासजी को उस प्रश्न का उत्तर समाप्त कर उस लेख को अपने समीप भेजने की प्रार्थना की। प्रश्नोत्तरों को लिखते समय उनके मन में अन्यान्य प्रश्नों का उदय हुआ। ये सब प्रश्न तथा उनके उत्तर लिपिबद्ध होते रहे। तत्पश्चात् उनके अस्वस्थ होने पर, श्रीयुक्त वनमालीदासजी नामक मेरे एक गुरु-भ्राता ने लिखना आरम्भ किया। लिखते लिखते उनके मन में भी प्रश्नसमूह उदय होते रहे, श्रीश्री गुरु-देवजी ने भी दो एक प्रश्न इङ्गित कर दिये, और लेख के समाप्त होने पर उनको पढ़ कर डाक्टर श्री ज्ञान बाबू प्रभृति ने भी कोई कोई प्रश्न उत्थापित किये। उन प्रश्नों को तथा उनके उत्तरों को क्रमशः लिपिबद्ध करने के पश्चात् लेख समाप्त किया गया। आधुनिककाल में अनेक लोगों के मन में हमारे जिज्ञासित-विषय सम्बन्ध में संशय उपस्थित होता है। यह विचार कर कि, इन प्रश्नोत्तरों के पढ़ने से उन सभों का उपकार होगा, श्री श्री गुरु महाराजजी की अनुमति लेकर मैं इन प्रश्नोत्तरों को मुद्रित कराकर प्रकाशित करता हूँ; आशा करता हूँ कि, इनके पाठ से अनेक लोगों के अनेक प्रकार के सन्देह विदूरित होंगे।

इन प्रश्नोत्तरों के पाठ में किसी किसी स्थान में पुनरुक्तियाँ दृष्टिगोचर होंगी। प्रश्नों के अनेक समय पर वास्तव में एक ही विषयक होने के कारण, तथा विभिन्न समय पर विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उत्थापित होने के कारण, इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ अनिवार्य्य हैं। परन्तु हम लोगों ने पाठ करते करते अनुभव किया है कि, इन सब पुनरुक्तियों के द्वारा उपदिष्ट विषय का संस्कार दृढ़ीभूत ही होता रहता है; अतएव उनके किसी प्रकार से परिवर्त्तित करने के लिये श्री श्री गुरुदेवजी से निवेदन करना आवश्यक नहीं समझा।

इन सब प्रश्नोत्तरों को नाना अध्यायों में विभक्त कर मुद्राङ्कित कराया। केवल पाठकों की सुविधा के निमित्त ऐसा किया गया है; मूल में कोई अध्याय विभक्त नहीं था। हम लोगों में से किसी की यह धारणा न थी कि, ग्रन्थाकार में मुद्रित होकर ये सब प्रश्नोत्तर प्रकाशित होंगे; अतएव शृङ्खलानुसार विषय-भेद से प्रश्नसमूह उत्थापित नहीं किये गये। इसी कारण विषय-भेदानुसार अध्याय-विभाग के नियम को सम्पूर्णरूप से रक्षित कर प्रश्नोत्तरों को अध्याय-द्वारा विभक्त करना अनेक स्थलों में सम्भव नहीं हुआ है। आशा करता हूँ कि पाठक-गण हम लोगों की इस त्रुटि को ग्रहण न करेंगे। इति।

निवेदक

श्रीसुधीरगोपाल मुखोपाध्याय।
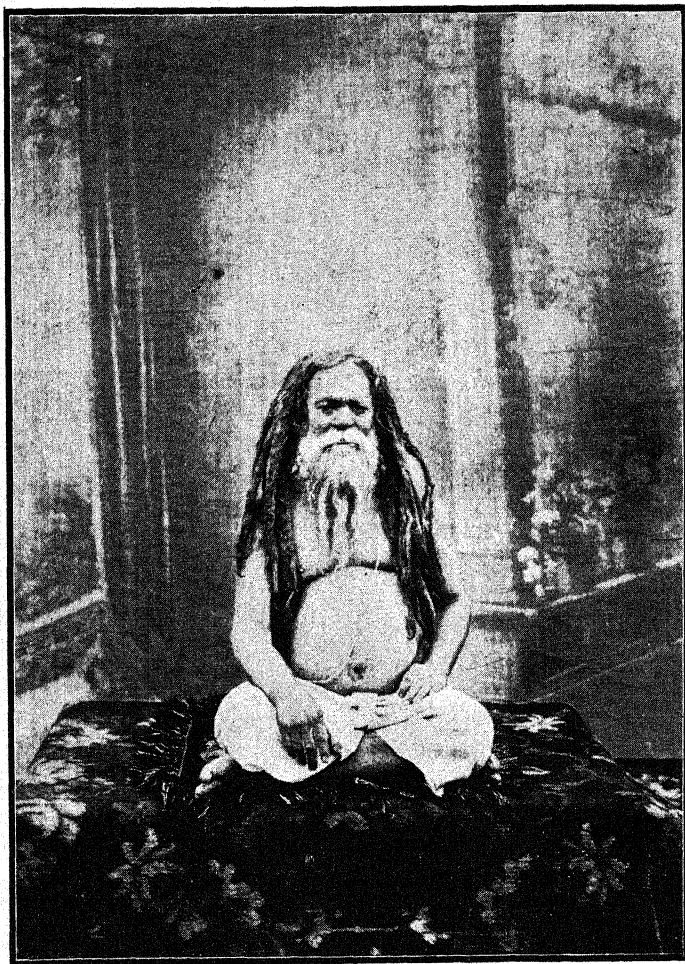
[व्रजविदेही महन्त]

श्रीमत् स्वामी सन्तदासजी बाबाजी महाराज ।

हिन्दी-संस्करण का परिचय।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्रीश्रीगुरुदेव की कृपा ही से पाठकवृन्द के समीप आज 'गुरु-शिष्य-संवाद' नामक अपूर्व ग्रन्थ का हिन्दी-संस्करण लेकर उपस्थित हो रहा हूँ। इस धार्मिक ग्रन्थ के प्रणेता मेरे परमाराध्य गुरुवर्य्य श्री १०८ श्री स्वामी सन्तदास बाबाजी व्रज-विदेही महन्त महाराज हैं। श्रीश्रीगुरुदेवजी गार्हस्थ्य जीवन में श्रीताराकिशोर शर्म्मा चौधरी, एम० ए०, बी० एल०, वकील हाईकोर्ट, के नाम से सुप्रसिद्ध थे। इस स्थिति में भी आप देश-कल्याण और मानव-हितसाधन के कार्य्य सुचारु-रूप से सम्पादित किया करते थे। वेदान्त-दर्शनादि अपूर्व ग्रन्थों के भाष्य श्रीमान् के गार्हस्थ्य-जीवन की उज्ज्वल कृतियाँ हैं। वङ्ग-देश में इन ग्रन्थों का बड़ा आदर है। जिस समय श्रीमान् ने गृहस्थाश्रम परित्याग कर वैराग्याश्रम में प्रवेश किया था, उस समय वङ्ग-देशीय समाचार-पत्रों ने दीर्घकाल पर्य्यन्त आपकी भूरि भूरि प्रशंसा की।

ब्रह्म-विषयक अनेकानेक शङ्काओं का समाधान (श्रुति-स्मृति प्रभृति ग्रन्थों के प्रचुर प्रमाणों के द्वारा) जिस प्रकार

इस पुस्तक में किया गया है, उस प्रकार अन्य किसी ग्रन्थ में देखने में नहीं आता। केवल बङ्ग-भाषा में इस ग्रन्थ के प्रणीत होने के कारण, एतद्देशीय जिज्ञासु-मण्डली 'गुरु-शिष्य-संवाद'—अमृत के रसास्वादन से वञ्चित रही जाती थी; इस त्रुटि को दूरीभूत करने के उद्देश्य से, अपने प्रेमी गुरु-भाइयों के आग्रह और राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा से प्रेरित होकर, ऋषि-वर श्रीश्रीगुरुदेव की चरणानुकम्पा से, इस पवित्र ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद, विज्ञ पाठकवृन्द की सेवा में अर्पण करता हूँ।

यदि ऐसे गहन विषयों के व्यक्त करने में कुछ त्रुटि हुई हो, तो आशा है कि सज्जनगण क्षमा करेंगे। यदि इसके पाठ से किञ्चिन्मात्र भी धर्म्मानुरागियों की आध्यात्मिक-वृत्ति की वृद्धि हो, तो गुरु-प्रसादस्वरूप में, उसे मैं अपना सौभाग्य मान कर अपनी इस तुच्छ सेवा को सार्थक समझूँगा।

निम्बार्काश्रम,
वृन्दावन—मार्च १९२७ ई०

गुरु-शिष्य-संवाद

प्रथम अध्याय

ब्रह्म, जीव एवं जगत्तत्त्व

विषय—ब्रह्म, ईश्वर, जीव—इनके यथार्थ स्वरूप क्या हैं ?
ब्रह्म में कर्म्मार्पण करने का अर्थ क्या है ?

शिष्य—शास्त्र में ब्रह्म को किसी स्थान में सद्रूप, किसी स्थान में सच्चिद्रूप, किसी स्थान में सच्चिदानन्दरूप, किसी स्थान में सर्वशक्तिमान् ईश्वरस्वरूप वर्णन किया है; एवञ्च जीव को भी किसी स्थान में ब्रह्म, किसी स्थान में ब्रह्मांश, किसी स्थान में ज्ञानस्वरूप, किसी स्थान में ईश्वराधीन मात्र कह कर वर्णन किया है; इसका तात्पर्य क्या है ? और जीव का सर्वदा ही ईश्वराधीन रहना सत्य होने पर, ईश्वर में कर्म्मार्पण करने का क्या अर्थ है ?

गुरु—केवल सद्रूप ब्रह्म एकान्त, निर्गुण, अनिर्देश्य, अनिर्वाच्य है। दृश्यस्थानीय समस्त प्रकृतिवर्ग सर्वप्रकार नामरूपादि लिङ्गरहित होकर उसी सद्रूप में अवस्थित हैं।

अतएव वह सद्रूप किसी लिङ्गविशिष्टरूप से किसी प्रकार चिन्तनीय नहीं है। यह केवल "नेति" "नेति" द्वारा—जो कुछ इन्द्रियगम्य है तद्विपरीतरूप से—परिलक्षित होता है। सत् शब्द केवल अस्तित्व बोधक है।

परन्तु यह सद्ब्रह्म सदा चिच्छक्ति युक्त है; वह ज्ञाता-स्वरूप है; ब्रह्म केवल सद्रूप नहीं है, वह सच्चिद्रूप है। यह चित् (दर्शन, ईक्षण अथवा दृक्) शक्तिविशिष्ट सत् अपने को (उसी सत् को) देखता है। ब्रह्म जड़वत् संज्ञाहीन नहीं है। वह अपने स्वरूप का परिज्ञाता है। जिस स्थान में सच्चिद्रूप से ब्रह्म का वर्णन किया गया है, उस स्थान में यही अर्थ समझना चाहिये।

चिच्छक्ति-द्वारा ब्रह्म जो अपने को अनुभव (दर्शन) करता है वह आनन्दमयरूप का अनुभव है। अतएव ब्रह्म सच्चिदानन्द-मयरूप से भी वर्णित है। वह अद्वितीय है—उससे भिन्न द्वितीय वस्तु नहीं है। जो कुछ दृष्ट, श्रुत अथवा अन्य किसी प्रकार से अनुभूत होता है, तत्समस्त उसी का अङ्गीभूत है, उसी में वर्तमान रहकर नाम और रूप-द्वारा विशिष्टभाव से प्रकाशित होता है, और उसी में लय-प्राप्त होता है—स्वीय नाम और रूप से विवर्जित होकर उसी रूप में स्थित रहता है।

अपने स्वरूप का अनुभव करने के निमित्त ब्रह्म की जो चिच्छक्ति है, उसके द्वारा ब्रह्म अपने को जिस प्रकार एक

अद्वैतरूप से अनुभव करता है, वैसे ही अपने उस सद्रूप को वह अनन्त विभिन्न रूप से भी अनुभव करता रहता है। जैसे तुम अपने समस्त शरीर-व्यापी अपने को एक कहकर मानते हो, तथा साथ ही साथ हस्तपादादि पृथक् पृथक् बहुत से अङ्गों का भी तुम अनुभव करते हो; वैसे ही चिच्छक्ति-द्वारा ब्रह्म अपने को एक अद्वैत रूप से तथा अनन्त विभिन्न रूप से देखता है। ये दोनों प्रकार के दर्शन साथ ही साथ होते रहते हैं; यही ब्रह्म की चिच्छक्ति का नित्यस्वरूप है। अतएव एक होकर भी वह क्यों अपने को अनन्तरूप से देखता है, यह आशङ्का नहीं हो सकती; क्योंकि यही उसका स्वरूप है। इसके द्वारा उसकी पूर्णता ही सिद्ध होती है, उसमें किसी का अभाव नहीं है; वह सर्वरूपी है; वह एक अथच बहु है। इस प्रकार के चिच्छक्ति-विशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा होती है।

ब्रह्म जो अपने को स्वीय चिच्छक्ति-द्वारा अनन्तरूप से देखता है उसके दो भेद हैं :—एक समष्टिभाव से दर्शन, और दूसरा व्यष्टिभाव से दर्शन। परन्तु समष्टिभाव से दर्शनकर्त्ता-रूप में ही उसकी ईश्वरसंज्ञा होती है; और व्यष्टिदर्शनकर्त्ता रूप में उसकी जीव संज्ञा होती है।

यह व्यष्टिरूप दर्शन भी दो प्रकार का है :—स्वरूप में दर्शन और भिन्न रूप में दर्शन—स्वरूप अर्थात् ब्रह्मरूप में तथा तद्भिन्न रूप में।

जीव जिस अवस्था में स्वरूप (ब्रह्मरूप) में समस्त वस्तुओं

का दर्शन करता है उस अवस्था में उसको मुक्त कहते हैं, जब भिन्न रूप से दर्शन करता है, तब उसकी बद्ध संज्ञा होती है। इस बद्धावस्था में उसमें अपने स्वरूपज्ञान का भी अभाव रहता है। दृश्यवर्ग का भिन्न रूप (ब्रह्म से भिन्न रूप) से जो दर्शन है, उसी को अविद्या कहते हैं।

ब्रह्म की चिच्छक्ति का कदापि अभाव नहीं होता, वह उसमें एकीभूत है। परन्तु चिच्छक्ति को मैंने स्वभावतः द्विरूप कहकर वर्णन किया है; एक रूप में ईश्वर, अपर रूप में जीव। अतएव ब्रह्म का ईश्वरत्व भी नित्य है और जीवत्व भी नित्य है। परन्तु जीव के नित्य होने पर भी उसमें अवस्थाभेद (बद्धावस्था और मुक्तावस्था) है; पर ईश्वर में यह भेद नहीं है। बद्धावस्था में जीव को अपनी तथा दृश्यवर्ग की ब्रह्मरूपता की उपलब्धि नहीं होती। मुक्तावस्था में ब्रह्मरूपता का ज्ञान होता है। ब्रह्म-रूप में दर्शन नित्य आनन्ददायक है। ईश्वर में इस दर्शन का अभाव कदापि न होने से, उसमें आनन्द का भी अभाव कभी नहीं होता; परन्तु ब्रह्म इस आनन्द को अपने से पृथक् अस्तित्व-शील पदार्थ कहकर अपनी चिच्छक्ति-द्वारा अनुभव नहीं करता।

ब्रह्म ही दृष्ट तथा द्रष्टा दोनों है। आनन्द भी ब्रह्म है। सद्रूप ब्रह्म जिस चिच्छक्ति से युक्त है, उस चिच्छक्ति-द्वारा अनुभूत विषय के स्वयं वही सत् होने के कारण, और सत् के भी स्वयं आनन्दरूप होने के कारण, वहीं सत् चिच्छक्ति-

द्वारा अपने को आनन्दरूप में ही अनुभव करता है। मुक्तावस्था-प्राप्त जीव का भी स्वरूप-ज्ञान प्रकाशित होने के कारण, उसकी भी इसी प्रकार की आनन्दमयावस्था उपजात होती है।

परन्तु मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि, बद्धावस्था में जीव का अपने स्वरूप का तथा दृश्यवर्ग का यथार्थ स्वरूप (आनन्दमय ब्रह्मरूप) विषयक ज्ञान आवृत रहता है, तन्निमित्त उस अवस्था में जीव को उस प्रकार का आनन्दानुभव नहीं होता। किन्तु बद्ध जीव भी जिस किसी वस्तु के अन्वेषण में जो कुछ काम करता है, उसी वस्तु को और उसी कार्य को आनन्द-दायक समझता है, नहीं तो उस कार्य में प्रवृत्त न होता। आनन्द भी किञ्चित् प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं; परन्तु बद्धावस्था में निरवच्छिन्न तथा पूर्ण आनन्द नहीं मिलता; कारण यह है कि, अपना तथा दृश्यवर्ग का पूर्ण रूप (ब्रह्मरूपत्व) उसको दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैसे जैसे उसकी दृष्टिशक्ति निर्मल होती जाती है, वैसे ही वैसे जीव को दृश्यबर्ग की आनन्दमयता की उपलब्धि होती जाती है। अतएव ब्रह्म स्वरूपतः आनन्दमय है; और यदि सम्यक् वर्णन किया जाय तो ब्रह्म को सच्चिदानन्दरूप कहकर ही वर्णन किया जा सकता है।

यह मैंने पहले ही कहा है कि, दृश्यस्थानीय समस्त प्रकृतिवर्ग सद्रूप ब्रह्म में अवस्थित हैं। इसको बोधगम्य करने के

लिए ऐसा विचार करना चाहिये कि, ईश्वर, सम्यक् द्रष्टा होने के कारण, कालशक्ति के परे तथा नित्य सर्वज्ञ है; अतएव त्रिकाल में प्रकाशित जागतिक सर्वविध वस्तु, समष्टि तथा व्यष्टि उभयरूप से, ईश्वर के ज्ञान में नित्य अवस्थित हैं। श्रुति भी कहती है "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"। जो उस सद्रूप में अवस्थित है वही अनन्त विभिन्न रूप से प्रकाशित होता है। वास्तव में त्रिकाल में प्रकाशित समस्त जागतिक व्यापार यदि ईश्वर-ज्ञान के नित्य विषयीभूत न होता तो, ईश्वर की सर्वज्ञता अर्थशून्य होती। ईश्वर-ज्ञान में उन सभों के नित्य वर्तमान रहने के कारण नूतन कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव श्रुति में जो जगत् को "सदेव... आसीत्" कहा है, वह इस सर्वज्ञता द्वारा भी प्रतिपन्न होता है। दृश्यवर्ग ब्रह्म में जिस प्रकार से स्थित है वह किसी प्रकार के विभिन्न भाव से कभी व्यष्टिद्रष्टा जीव के निकट प्रकाशित नहीं हो सकता; दृश्यवर्ग जैसे नित्यरूप से ईश्वर-ज्ञान में अवस्थित है, वैसे ही जीव को उसका दर्शन (अनुभूति) होगा। अतएव जीवशक्ति ऐशीशक्ति के अधीन है। सम्यक् दर्शन कार्य के अन्तर्गत यह व्यष्टि दर्शन है; ईश्वर जिस प्रकार से ज्ञात करता है, उसके विपरीत जीव की कोई अनुभूति नहीं हो सकती; यही ईश्वर का नियामकत्व है। जीव के सम्यक् दर्शन न होने के कारण उसके ज्ञान का पारम्पर्य होता है; इसी का नाम काल है। अतएव जीव कालाधीन

है। जीव की अनुभूति के विषय में अवश्यम्भावित्व है; इसलिये ईश्वर को जीव के समस्त कार्य का नियन्ता कहते हैं। वास्तव में कर्म्म अविद्या का ही फलस्वरूप अथवा रूपान्तर-मात्र है। जीव के दर्शनकार्य का क्रम अवधारित है, (अर्थात् किसके पश्चात् किसका दर्शन होगा, यह अवधारित है)। इस पारम्पर्य के कारण, तथा पारम्पर्य निमित्तक सुखदुःखादि के अनुभव की विभिन्नता के कारण, प्रत्येक कार्य नूतन प्रतिभात होता है, मानो एक कार्य के द्वारा दूसरे एक नूतन कार्य की सृष्टि हुई, ऐसा ज्ञात होता है। समस्त कर्मविषय में ईश्वराधीनत्व रहने का विवेक अन्तःकरण में स्थापन करना ही (समस्त कार्य का प्रकाशकर्त्ता ईश्वर है, इस प्रकार बुद्धियुक्त होना ही) ईश्वर में कर्म्मार्पण करना कहा जाता है। जीव को अपने को सर्वदा ईश्वरांश (चित्स्वरूप, व्यष्टिद्रष्टा) अतएव ईश्वराधीन चिन्तन करना चाहिये। यही यथार्थ दास्यभाव है। इस चिन्तन-द्वारा कर्म में अहंबुद्धि विलुप्त होती है और अन्त में जीव निर्मल चिदानन्द रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है—इसी को मोक्ष कहते हैं। वेदान्तदर्शन के चतुर्थ अध्यायान्तर्गत चतुर्थ पाद के ऊनविंश सूत्र में यह उपदिष्ट है कि, पूर्ण मुक्त पुरुष अपने को ब्रह्मरूप में अनुभव करते हैं। साधनावस्था में भी जीव को अपनी उसी मुक्तावस्था का चिन्तन करना चाहिए; अर्थात् मुमुक्षु व्यक्ति को अपने को परब्रह्म के साथ अभिन्न भाव से (उसके अङ्गीभूत भाव से) ध्यान करना चाहिये। यह भी

वेदान्तदर्शन के चतुर्थ अध्यायान्तर्गत प्रथम पाद के तृतीय, द्वादश इत्यादि सूत्रों में वर्णित है। वेदान्तदर्शन के चतुर्थ अध्याय को सम्यक् रूप से पढ़ना चाहिये।

अब समझ सकोगे कि ब्रह्म को किसी स्थान में "सत्", किसी स्थान में "सचित्", किसी स्थान में "सच्चिदानन्द", तथा किसी स्थान में ईश्वर कह कर जो वर्णन किया है, वह समस्त सत्य है। केवल विशेष विशेष विवक्षा के अनुसार वर्णन का प्रभेद है।

जीव भी ब्रह्म का अङ्गीभूत अंश है—एक विशेष प्रकार का चिच्छक्तिस्वरूप, और आनन्दमय है। वह नित्य ही (अविद्यायुक्त बद्धावस्था में, तथा तद्रहित मोक्षावस्था में) स्वरूपतः व्यष्टिद्रष्टा होने के कारण, नित्य ईश्वराधीन और उसका अंशमात्र है। अंश सर्वभाव से अंशी के अन्तर्भूत है, अंशी के अतिरिक्त अंश का कुछ भी नहीं है और न कुछ हो सकता है। अतएव जीव ब्रह्म से अभिन्न है। परन्तु अंशी की सत्ता अंशमात्र में पर्याप्त नहीं है। अंशी अंश को अतिक्रम करके भी रहता है। अतएव अंशी से अंश भिन्न भी है। अत-एव अंश का अंशी से भिन्नत्व और अभिन्नत्व दोनों सत्य है। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध इस प्रकार का भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध जानना।

जीव को ब्रह्म का अंश कहने से जैसे बृहत् मृतिपण्ड का अंश उसका एक खण्ड है ऐसा नहीं समझना। एक ही पुरुष

के जैसे दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति इत्यादि नाना प्रकार के शक्ति-रूप अंश हैं, जीव को भी तद्रूप ब्रह्म का चिच्छक्तिरूप अंश समझना चाहिये। जैसे जीव की दर्शनशक्ति दर्शनकाल में शक्तिरूप से प्रकाशित होती है, दर्शनव्यापार जब नहीं रहता है तब वह दर्शनशक्ति जीव में लीन होकर उसके साथ एकता प्राप्त भाव से स्थित रहती है; वैसे ही जीव भी ब्रह्म की विशेष विशेष चिच्छक्ति (ज्ञानशक्ति) हैं; ब्रह्म के स्वरूप के साथ एकीभूत होकर स्थित रहने पर भी जीव दर्शन कार्य के सम्बन्ध में उसी सत् के विशेष शक्तिरूप से प्रकाशित है; शक्ति और शक्तिमान् में जो भेदाभेद सम्बन्ध है, जीव के साथ ब्रह्म का भी वही भेदाभेद सम्बन्ध जानना चाहिये।

[इस स्थल में "ब्रह्म" शब्द का व्यवहार "परब्रह्म" के अर्थ में किया गया है। परन्तु शास्त्रों में अनेक स्थलों में "ब्रह्म" शब्द "कार्यब्रह्म" (हिरण्यगर्भ) अर्थ में भी व्यवहृत हुआ है। किस स्थान पर किस अर्थ में "ब्रह्म" शब्द व्यवहृत हुआ है, विवक्षा विचार-द्वारा उसको समझना चाहिये।

सद्रूप परब्रह्म में ही प्रत्येक जीवशक्ति के प्रतिष्ठित रहने के कारण, विशेष विशेष शक्तिविशिष्टरूप में वही ब्रह्म अनन्त बिभिन्न रूप से प्रतिभात होता है। परन्तु उस प्रत्येक विशेष शक्ति के अन्तरालय में उसके आश्रय रूप से एक अखण्ड "सत्" ब्रह्म के रहने के कारण, प्रत्येक विशेष पदार्थ को पूर्ण

कहकर "पूर्णमदः पूर्णमिदम् इत्यादि" श्रुति में वर्णन किया है; यह एक दृष्टान्त-द्वारा समझाता हूँ। दर्शनशक्ति तुम्हारी एक शक्ति है; उस विशेष शक्ति के प्रयोग द्वारा तुम दर्शन करते हो। श्रवणशक्ति तुम्हारी एक दूसरी शक्ति है, जिसके द्वारा तुम श्रवण करते हो। ये दर्शनशक्ति और श्रवणशक्ति परस्पर विभिन्न हैं; परन्तु सम्यक् तुम उपरोक्त प्रत्येक शक्ति के आश्रय हो; दर्शन करने में सम्यक् तुम दर्शन करते हो, श्रवण करने में सम्यक् तुम श्रवण करते हो; अतएव दर्शनकारी को भी पूर्ण तुम कहना पड़ेगा, तथा श्रवणकारी को भी पूर्ण तुम कहना पड़ेगा। दर्शनशक्ति की सीमाबद्धता के कारण दर्शनकारी अपूर्ण न कहा जायगा। अतएव जीव तथा समस्त जागतिक वस्तु जब ब्रह्मशक्ति हैं तब उनमें पारस्परिक विभिन्नता तथा सीमा-बद्धता रहने पर भी, जब सद्ब्रह्म से वे भिन्न नहीं हैं,—जब उनमें प्रत्येक पूर्ण सद्ब्रह्म का ही अङ्गीभूत है, तब प्रत्येक को पूर्ण कहने में कोई बाधा नहीं हो सकती। परन्तु एक बृहत् मृत्पिण्ड के जैसे छोटे छोटे खण्ड होते हैं, समस्त खण्डों की मिलितावस्था में उस बृहत् मृत्पिण्ड की पूर्णता होती है,—कोई खण्ड पूर्ण नहीं है,—सद्रूप ब्रह्म तद्रूप खण्डयुक्त नहीं है, वह नित्य पूर्ण, अद्वैत, परन्तु अनन्त शक्तिशाली है; प्रत्येक खण्ड के उसी अखण्ड सद्रूप की शक्ति होने के कारण, शक्ति शक्ति में प्रभेद रहने पर भी, प्रत्येक के पूर्ण सद्रूप में प्रतिष्ठित रहने से, प्रत्येक पूर्ण

कहकर आख्यात है; इसमें कोई वाक्य-विरोध अथवा युक्ति-विरोध नहीं है।

विषयः—जगत् ब्रह्म में प्रतिष्ठित है इसकी धारणा कैसे की जाय।

शिष्य—आपने कहा है कि अनन्तकाल में प्रकाशित अनन्तरूपी जगत् नित्य सद्ब्रह्म में प्रतिष्ठित है, नूतन कुछ भी नहीं होता; यह कैसे? इसकी धारणा मैं नहीं कर सकता; इसे भली भाँति समझा दीजिये।

गुरुः—इस विषय को "ब्रह्मवादी ऋषि तथा ब्रह्मविद्या" नामक ग्रन्थान्तर्गत तृतीयाध्याय के तृतीय पाद के १७९ पृष्ठ में एक दृष्टान्त-द्वारा मैंने समझाने का प्रयत्न किया है। उस स्थान पर मैंने वर्णन किया है, "जिस प्रकार एक प्रस्तरखण्ड को खोद कर उसमें से काली, दुर्गा, राम, कृष्ण, शिव, गोपाल प्रभृति मूर्तियाँ इच्छानुरूप प्रकाशित की जाती हैं; परन्तु उस प्रस्तरखण्ड को उक्त रूप से खोदने के पूर्व वे सब मूर्तियाँ उसी प्रस्तरखण्ड के साथ एक होकर उसमें अभिन्न रूप से वर्तमान रहती हैं, अतएव प्रकाशित होने के पूर्व और पश्चात् समस्त मूर्तियाँ उस प्रस्तर से अभिन्न हैं। उसी प्रकार जगत् भी परब्रह्म से प्रकाशित है; परन्तु प्रकाशित होने के पूर्व और पश्चात् समस्त अवस्थाओं में वह ब्रह्म से अभिन्न है। विशेष विशेष रूप में प्रकाशित

होने के पूर्व जैसे समस्त मूर्तियों का परस्पर में पृथक् भाव से स्फुरण नहीं रहता, वे पृथक् पृथक् नाम तथा रूप-द्वारा उस अवस्था में स्वीय उपादान प्रस्तर से पृथक् नहीं की जा सकतीं, और समस्त रूप जो पश्चात् प्रकाशित होते हैं, वे सब प्रस्तर में ही एक होकर विद्यमान थे; वैसे ही जगत् भी पृथक् पृथक् नाम और रूप विशिष्ट होकर प्रकाशित होने के पहिले ब्रह्म के साथ एक रस होकर वर्तमान रहता है, पश्चात् प्रकाशित समस्त नाम और रूप ब्रह्म में ही अन्तर्निहित होकर उससे अभिन्न रूप से अवस्थित रहते हैं।" इस स्थल में "ब्रह्म से प्रकाशित होने के पूर्व" तथा "ब्रह्म से प्रकाशित होने के पश्चात्" ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया गया है; इससे यह न समझना कि ब्रह्म काल-शक्ति के अधीन है। वास्तव में ब्रह्म की दर्शन-शक्ति नित्य है, यह उसके स्वरूप में ही वर्तमान है। वह दर्शन-शक्तियुक्त सद्रूप ब्रह्म सदैव ईश्वर तथा जीवरूप से विराजमान है। व्यष्टिरूप से दर्शन-शक्ति-सम्पन्न जो सत् है उसी का नाम जीव है; यह जीव भी नित्य है। विशिष्टभाव से ज्ञान का विषय होने ही का नाम प्रकाशित होना है। ब्रह्म की इन समस्त शक्तियों का भेद-मात्र "पूर्व" तथा "पश्चात्" शब्द-द्वारा दर्शित किया गया है। श्रुति में भी इस अर्थ में "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि स्थलों में कालवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका आशय यह नहीं है कि, ब्रह्म एक समय में एक अवस्था में रहा, दूसरे समय में उसका परि-

वर्तन हुआ; उसने विशेष सृष्टि की इच्छा की, और तत्पश्चात् सृष्टि की रचना की। ऐसा होने से वह परिवर्तनशील तथा कालाधीन हो जाता है; यह श्रुति का अभिप्राय नहीं है।

अतएव ब्रह्मस्वरूप का पूर्णरूप से यदि वर्णन किया जाय तो उसको चतुष्पादविशिष्ट कहकर वर्णन कर सकते हैं; यथा अनन्तपृथक्रूपविशिष्ट जगत्-रूप प्रथमपाद, जीवरूप द्वितीय पाद, ईश्वररूप तृतीय पाद और अक्षरसत्-रूप चतुर्थ पाद। उपासना के निमित्त अधिकारी-भेद से एक एक पाद ग्रहण कर उसका वर्णन किया जाता है, बस। वास्तव में ये चतुष्पाद नित्य हैं, युगपत् (एक साथ) ब्रह्मरूप में नित्य अवस्थित हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम अध्याय के ७ से १२ श्लोक द्रष्टव्य।

विषयः—उपासनाकाल में ब्रह्म किस किस रूप से ध्येय है ?

शिष्य:—आपने कहा कि उपासना के निमित्त एक ब्रह्म ही का पृथक् पृथक् स्वरूप गृहीत होता है; यह विशदरूप से जानने की अभिलाषा है। और उपासना के निमित्त ब्रह्म का अवतार-रूप प्रायशः गृहीत होता है; यह ब्रह्म का कौन सा रूप है, और इसका तत्त्व क्या है ?

गुरु:—पूर्वकथित सद्रूप ब्रह्म ही अक्षरब्रह्म शब्दवाच्य है। इसमें सर्व प्रकार के विशेष रूपों का प्रकाशाभाव है। जो कुछ दृश्य है, जो कुछ मन द्वारा चिन्तनीय है, तत्समस्त विशेषत्व-विहीन होकर—सर्वविध रूपवर्जित होकर—सद्रूप ब्रह्म में एकीभूत है। यह (ब्रह्म) वाक्य तथा मन से परे है; कारण, वाक्य और मन किसी विशेषता का अवलम्बन करते हैं। साधारणत: मन रूपरसादि विशेष धर्म-वर्जित अवस्था का अवलम्बन नहीं कर सकता। परन्तु चिच्छक्ति के स्वयं रूप-रसादि से वर्जित होने पर भी, उसी शक्ति के जीव के स्वरूप होने के कारण, और उस सम्बन्ध में जीव की साधारण भाव से स्वाभाविक अनुभूति रहने के कारण, उसी चिच्छक्ति का ध्यान किसी किसी को साध्यायत्त है। इसी चिच्छक्ति का अन्यतम नाम पुरुष है। इसी पुरुष-मात्र के आत्मस्वरूप का ध्यान ही किसी किसी के लिये उपयोगी है। समग्रदर्शी ईश्वर "उत्तम पुरुष" शब्द से संज्ञित किया जाता है।

मैंने पहिले ही कहा है कि व्यष्टिद्रष्टा जीव समग्रद्रष्टा उत्तमपुरुष ईश्वर का (अङ्गीभूत) अंश-मात्र है। अतएव जीव सम्पूर्ण रूप से ईश्वराधीन है। इस कारण जीव के स्वयं चिद्रूप होने पर भी, उससे अधिक व्यापक ईश्वर के प्रति जीव में भक्ति-सञ्चार हो सकता है। तुम, हम इत्यादि अनन्त कोटि जीव विश्वरूप-देहव्यापी एक चैतन्यमय पुरुष के अङ्गीभूत हैं। वह समग्रद्रष्टा है, हम लोग व्यष्टि-

द्रष्टा हैं। हम लोगों के सर्व प्रकार के सुखादि की अनुभूति उसके अधीन होने के कारण, उसके महत्त्व का बोध होने से, उस पर हम लोगों की भक्ति का सञ्चार होना स्वाभाविक है। वास्तव में हम लोगों के ईश्वराङ्गोभूत अंश-मात्र होने के ज्ञान के साथ ही साथ ईश्वर के प्रति हम लोगों में आकर्षण उपजात होना अवश्यंभावी है। यथा नदी स्वीय उत्पत्तिस्थान समुद्र की ओर सदैव धावित होती है, और यथा पृथ्वी से विश्लिष्ट पदार्थ स्वभावतः पृथ्वी में आकृष्ट होता रहता है, तथैव जीव भी स्वीय आश्रयभूत ईश्वर में आकृष्ट होता है। वास्तव में किसी वस्तु के प्रति महत्त्व का बोध होने पर सर्वत्र उसके प्रति कुछ न कुछ भक्ति का संचार होता ही है; यह एक प्रकार का आकर्षण विशेष है।

इसी आकर्षण का नाम भक्ति है। परन्तु जैसे तुम्हारे अपने समग्र देह के द्रष्टा (अधिष्ठाता) होने पर भी देह के पतन होने से भी, अपने स्वरूप में दृश्यस्थानीय देह से विभिन्न तुम्हारा विनाश नहीं है; और मुक्तावस्था में तो सर्वप्रकार विशेष देहवर्जित चित्कण रूप से ही जीव अवस्थित रहता है; वैसे ही सम्यक् विश्वद्रष्टा जो ईश्वर है वह भी स्वरूपतः विश्व से विभिन्न है। वह चिन्मात्र तथा द्रष्टास्वरूप है; उस स्वरूप में वह सर्वरूपवर्जित है, तथा दृश्यस्थानीय सर्व वस्तुओं से विभिन्न है। उसको निर्दिष्ट करने में भी "नेति" "नेति" (अर्थात् दृश्यस्थानीय कोई वस्तु नहीं, तदतीत,

ज्ञातास्वरूप मात्र) कहा जा सकता है। वास्तव में पूर्वोक्त सद्रूप अक्षरब्रह्मावस्था और चिच्छक्तियुक्त ईश्वरावस्था, ये दोनों ही रूपरसादि वर्जित हैं—एक सन्मात्र और अपर सच्चिन्मात्र। यह भी मैंने पहले ही कहा है कि, यह चित् जो अपने सद्रूप का दर्शन करता है वह दर्शन आनन्द का अनुभव है। यह आनन्द का दर्शन अपने से अभिन्न रूप का अनुभव है। इसमें द्वैत का आभास-मात्र नहीं है। अतएव ईश्वर को सच्चिदानन्द-रूप तथा अरूपी कह कर श्रुतियों और ऋषियों ने वर्णन किया है। परन्तु जैसे तुम देही अपने देह के अधिष्ठाता हो, वैसे ही प्रकाशित समग्र जगत् के अधिष्ठातृ रूप से जब ईश्वर का ध्यान किया जाता है—विश्वरूप-देहविशिष्ट पुरुषरूप से जब ईश्वर का ध्यान किया जाता है—तब वही ध्यान साकार (सगुण) का ध्यान है। यही ध्यान अनन्त-विराट् पुरुष का ध्यान है। विष्णुपुराणान्तर्गत षष्ठांश के सप्तम अध्याय में पूर्वोक्त समस्त विषय अति सुन्दर रूप से वर्णित है, यथा उसी अध्याय के ६९ आदि श्लोकों में उक्त है:—

"अमूर्त्तं ब्रह्मणो रूपं यत् सदित्युच्यते बुधैः।
समस्ताः शक्तयश्चैता नृप ! यत्र प्रतिष्ठिताः ॥६९॥
तद्विश्वरूपरूपं वै रूपमन्यद्धरेर्महत्।
समस्तशक्तिरूपाणि तत् करोति जनेश्वर" ॥७०॥

अर्थात्, हे नृप ! ब्रह्म का जो अमूर्त रूप है वही 'सत्' शब्द द्वारा कथित होता है; सर्व प्रकार की शक्तियाँ इसी सद्रूप में प्रतिष्ठित

हैं। हे राजन् ! इसके अतिरिक्त महत् जो विश्वरूप मूर्ति है वह उसका अन्यतर रूप है; वही समस्त शक्ति-सम्पन्न समस्त विशेष विशेष रूपों को प्रकाशित करता है।

उपरोक्त श्लोकों में कहा गया है कि उसका प्रथम रूप अमूर्त सद्रूप, अर्थात् सत् मात्र है। ("सत्" शब्द से विद्यमानता मात्र का बोध होता है। वास्तव में किसी प्रकार से उसके इस रूप का निर्देश नहीं किया जा सकता। उस सम्बन्ध में केवल यह कहा जाता है कि वह (ब्रह्म) है। अतएव "सत्" शब्द-द्वारा केवल यही निर्देश किया गया है।) परन्तु वही "सत्" चिच्छक्तिविशिष्ट है, जो समस्त शक्तियों का आधार है; अतएव वह "सत्" सर्वशक्तिमान् है। यह शक्ति भी उसकी स्वभावगत है। इसी सर्व-शक्तिमय रूप में वह (ब्रह्म) "ईश्वर" कहा जाता है। अतएव पूर्वोल्लिखित सच्चिदानन्दरूपी ईश्वर सर्वविध विशेषरूप से वर्जित है। वह जगदतीत होकर जगत् को प्रकाशित करता है। विश्व-रूपाधिष्ठित जो 'चित्' है, जिसको मैंने महाविराट् नाम से वर्णन किया है, वही ईश्वर की प्रथम प्रकाशित अवस्था है; वह प्रकाशित ईश्वर है; वह इस अवस्था में हिरण्यगर्भ नाम से श्रुति में कथित है। यह ब्रह्म का प्रथम मूर्तिमान् रूप है। यही त्रिविध रूप, अधिकार के अनुसार, साधक के ध्यातव्य हैं। यह विषय विष्णुपुराणान्तर्गत षष्ठांश के सप्तम अध्याय के ४७ श्लोक में स्पष्ट रूप से कथित है। यथा:—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः।
भूप ! मूर्त्तामूर्त्तञ्च परञ्चापरमेव च ॥४७॥

अर्थात्, हे नृप ! मन का आश्रय (ध्यातव्य) ब्रह्म है; ब्रह्म का स्वभावतः द्विविध रूप है; एक ओर अमूर्त्त तथा मूर्त्त और दूसरी ओर पर तथा अपर। अर्थात् अमूर्त्त रूप दो प्रकार का है— पर अमूर्त्त तथा अपर अमूर्त्त; और मूर्त्त रूप भी दो प्रकार का है—पर मूर्त्त तथा अपर मूर्त्त।

श्रीधर स्वामी ने उपरोक्त श्लोक की टीका में कहा है, "... मूर्त्त मूर्त्तिमत्, अमूर्त्त तद्रहितम्। तत्पुनः प्रत्येकं परञ्चापरञ्चेति द्विधा, तत्र परममूर्त्त निर्गुणं ब्रह्म, अपरञ्चामूर्त्त षड्गुणेश्वररूपम्"।

इस स्थान में लक्ष्य करना चाहिये कि ब्रह्म स्वभावतः द्विरूप है, यह वेदव्यासजी ने उक्त पुराण में सुस्पष्ट रूप से वर्णन किया है। "स्वभावतः" शब्द से यह अवश्य मानना पड़ेगा कि, इस द्विरूपता का कभी अभाव नहीं होता है; कारण, स्वभाव परिवर्तित नहीं होता है।

अनन्त-विश्वरूपी ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ नाम से श्रुति में, तथा अनन्तदेव इत्यादि नाम से पुराणादि में उक्त है। जागतिक सर्वविध रूप भगवान् अनन्तदेव के विराट् देहान्तर्भूत हैं। यह उसका प्रथम प्रकाशित मूर्त रूप है। ब्रह्म के इस विश्वरूप को कोई कोई परमूर्त्तरूप कह कर, पुनः

अपर कोई कोई अपर मूर्त्तरूप कह कर वर्णन करते हैं; वास्तव में चाहे यह रूप पर हो अथवा अपर हो, यह ब्रह्म का मूर्त्त रूप है तथा साधकों के ध्यान के योग्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतएव यह "पर" पदवाच्य है, अथवा "अपर" पदवाच्य है, इसका विचार करना इतना आवश्यकीय नहीं है।

विषय—भगवान् का द्वितीय मूर्त्त रूप क्या है ?

शिष्य:—आपने कहा कि मूर्त्त रूप भी दो प्रकार का है। उनमें एक ही प्रकार के रूप की आपने व्याख्या की है; "पर" हो अथवा "अपर" हो, भगवान् का द्वितीय मूर्त्त रूप क्या है ? यह सुनने की अभिलाषा है।

गुरु:—अच्छा, इस द्वितीय मूर्त्त रूप की अब व्याख्या करूँगा।

मैंने पहिले वर्णन किया है कि सद्ब्रह्म सदैव चिच्छक्ति युक्त है, वह नित्य चैतन्य-विशिष्ट है, जड़वत् अज्ञान नहीं है, वह स्वयं ही अपने ज्ञान का विषय है; एक निराकार अद्वैत रूप से तथा अनन्तरूपविशिष्ट रूप से वह अपना दर्शन करता है। इस अनन्तरूप का दर्शन दो प्रकार का है। सम्यक् दर्शन तथा व्यष्टि दर्शन। व्यष्टि रूप से दर्शनशक्ति को ही जीव-शक्ति कहते हैं। यह व्यष्टि दर्शन सम्यक् दर्शनशक्ति के अन्तर्भूत है। सम्यक् दर्शनशक्तिविशिष्ट "सत्" ही का

नाम ईश्वर है। अतएव जीवशक्ति ईश्वराधीन है। जो ईश्वर के दर्शन का विषय स्थानीय है, वही पृथक् पृथक् रूप से जीव के भी दर्शन का विषयभूत होता है।

विषय—जीव के ईश्वराङ्गीभूत होने की धारणा किस प्रकार हो सकती है?

शिष्य:—ब्रह्म के द्वितीय मूर्त्त रूप की तथा अवतार-तत्त्व की व्याख्या के पहिले व्यष्टि दर्शन शक्ति (जीवशक्ति) किस प्रकार से सम्यक् दर्शन शक्ति (ईश्वर) के अङ्गीभूत तथा अधीन है, यह और भी विशेष रूप से समझने की इच्छा है।

गुरु:—एक दृष्टान्त-द्वारा मैं इसे समझाता हूँ :—

तुम्हारे सम्मुख यह एक स्तम्भ दण्डायमान है, तुम इस स्तम्भ का सम्पूर्णाङ्ग देखते हो; यही इस स्तम्भ का सम्यक् ज्ञान है। परन्तु निविष्ट भाव से चिन्तन करने पर देखोगे कि, बृहत्काय स्तम्भ के सम्यक् दर्शन के अन्तर्भूत इसके प्रत्येक अङ्ग का विशेष ज्ञान भी अवश्य वर्तमान है। अङ्गविशेष का ज्ञान तथा सम्यक् स्तम्भ का ज्ञान साथ ही साथ उत्पन्न होता है। जो कुछ सम्यक् दर्शन में है उसके अतिरिक्त कुछ भी उस विशेष विशेष (अङ्गविशेष के) दर्शन का विषयीभूत नहीं हो सकता। चिन्तन करने से ज्ञात होगा कि, तुम्हारे उस स्तम्भविषयक ज्ञान के बहुविध विशेषाङ्ग हैं; उसका वर्ण शुभ्र है, यह एक विशेष ज्ञान है; इसका कुछ अंश गोल,

कुछ अंश चतुष्कोण, तथा कुछ अंश अन्य प्रकार का है, यह और एक विशेष ज्ञान है। पुनः यह कठिन है; शर्करा (शक्कर) से जो मन्दिर अथवा और किसी प्रकार के क्रोड़नक (खिलौने) प्रस्तुत किये जाते हैं, वे भी देखने में स्तम्भ के सदृश प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु वे इतने दृढ़ नहीं होते तथा उनके आस्वाद भी इससे (स्तम्भ के आस्वाद से) विभिन्न प्रकार के हैं। स्तम्भ पर आघात करने से एक विशेष प्रकार का शब्द होता है, वह धातु के शब्द के सदृश नहीं है। इन समस्त अवस्थाओं के द्वारा तुम इसको प्रस्तरनिर्मित जानते हो; यह सब भी स्तम्भविषयक अपर विध विशेष ज्ञान है। इसी प्रकार बहुविध विशेष ज्ञान स्तम्भ-दर्शन के साथ ही साथ उपस्थित होकर स्तम्भविषयक पूर्ण ज्ञान के अङ्गीभूतभाव से वर्तमान रहते हैं। यह सब विशेष ज्ञान वास्तव में भिन्न भिन्न इन्द्रिय-द्वारा, तथा कियदंश अनु-मान-द्वारा भी, अर्जित होते हैं; किन्तु स्तम्भसम्बन्धीय पूर्ण ज्ञान में समस्त विशेष ज्ञान एकत्र होकर वर्तमान रहते हैं। वे विशेष विशेष अङ्ग के ज्ञान सम्यक् स्तम्भ ज्ञान के अन्तर्भूत हैं। इस दृष्टान्त-द्वारा तुम समझोगे कि सद्ब्रह्म की जो सम्यक् दर्शनशक्ति है—जिसको मैंने ईश्वर-शक्ति कहकर वर्णन किया है—उसके अन्तर्भूत रूप से प्रत्येक अङ्गविशेष के दर्शन की विशेष शक्ति भी अवश्य वर्तमान है; जिसके द्वारा उसी अङ्गविशेष का ज्ञान होता है। इसी शक्ति को जीवशक्ति कहते हैं। सूर्य्य भगवान् के आकाश में उदय होने के साथ ही

साथ जिस प्रकार उनका सम्यक् प्रतिबिम्ब चारों ओर व्याप्त होता है और उस सम्यक् प्रतिबिम्ब के साथ ही साथ अनन्त सूक्ष्म रश्मि (किरणें) भी तदन्तर्भूतरूप से प्रसारित होती हैं, उसी प्रकार अनन्त सूक्ष्म जीवशक्तियाँ भी सम्यक्-दर्शनकारी ईश्वर के अन्तर्भूत रूप से प्रकाशित होती हैं। ईश्वर और जीव, इन दोनों की दृश्य वस्तु एक सद्ब्रह्म ही है; ईश्वर सद्ब्रह्म का सम्यक् दर्शन करता है, जीव ईश्वराधीन रहकर उसी सद्ब्रह्म के विशेष विशेष अंश का दर्शन करता है। यही जीव और ईश्वर का स्वरूपगत भेद है। परन्तु स्तम्भ-दर्शन-दृष्टान्त में मैंने कहा है कि, विशेष विशेष स्तम्भाङ्ग का ज्ञान समग्र स्तम्भज्ञान के अन्तर्भूत है; उसी प्रकार जीव को भी ईश्वर के अन्तर्भूत जानना। अतएव जीव स्वभावत: ईश्वराधीन है; यही जीव का स्वरूप है।

विषय—ब्रह्म के बिशेष विशेष अङ्ग रहने का तात्पर्य क्या है ?

शिष्य:—स्तम्भ-दर्शन-दृष्टान्त से समष्टि और व्यष्टि-ज्ञान का आशय अब मुझे ज्ञात हुआ। किन्तु ब्रह्म का तो कोई खण्ड नहीं है, वह अखण्ड है, नित्य पूर्ण कहकर पहिले आपने उसकी व्याख्या की है; जागतिक विभिन्न वस्तु समूह भी उसके स्वरूप के अन्तर्गत है ऐसा आपने कहा है; तो उसके विशेष विशेष अङ्ग का दर्शन कैसे सम्भव है ? विशेष विशेष अङ्ग के कहने से तो, जैसे वृक्ष के पत्र-शाखादि पृथक् पृथक् अङ्ग हैं,

यह ज्ञात होता है, और अङ्गसमूह के मिलने से समष्टि वृक्ष होता है; ये सब अङ्ग वृक्ष के विशेष विशेष खण्ड हैं। ब्रह्म का जब खण्ड नहीं है—वह अखण्ड है, तब उसके विशेष विशेष अङ्ग कैसे हो सकते हैं और व्यष्टि दर्शन (विशेष विशेष अङ्ग के ज्ञान) का तात्पर्य ही क्या है ?

गुरुः—एक प्रकार से इसका उत्तर पहिले ही दिया जा चुका है; परन्तु तुम्हारे बोध के निमित्त पुनः दृष्टान्त-द्वारा समझाता हूँः—तुम अपने स्वरूप में अपने को एक अखण्ड ही तो समझते हो ? यह सत्य है कि तुम्हारे शरीर के हस्त-पादादि नानाविध अङ्ग हैं, किन्तु इस शरीर में अधिष्ठित जो एक चैतन्यमय पुरुष है, वही तो तुम्हारा निज स्वरूप है ? वह पुरुष तो सर्वदा ही एक है, गमन करने के समय में वह गमन कार्य वही एक सम्पूर्ण पुरुष तुम्हीं करते हो; ऐसा कभी मालूम नहीं होता है कि, तुम्हारा कोई अंश गमन करता है। वैसे दर्शन-काल में तुम सम्पूर्ण पुरुष ही दर्शन करते हो; श्रवण-काल में सम्पूर्ण तुम्हीं श्रवण करते हो। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में सम्पूर्ण तुम्हीं वह कार्य करते हो ऐसा अनुभव करते हो। इस कार्य-समूह में प्रत्येक कार्य एक तुम्हारी ही शक्तिविशेष का प्रसारण है। ऐसा तुम कभी अनुभव नहीं करते हो कि, तुम्हारा एक खण्ड दर्शन करता है, अपर खण्ड श्रवण करता है, इत्यादि। तुम एक, अखण्डरूप हो; किन्तु तुम में दर्शनादि बहुविध शक्तियाँ हैं; वे सब शक्तियाँ अपने अपने कर्म्म करने के

समय शक्तिरूप से प्रकाशित होती हैं, अन्य समय तुम में लीन होकर अभिन्न भाव से स्थित रहती हैं। जब तुम अपनी आँखें मूँदे रहते हो—कुछ देखते नहीं हो—तब भी तुम्हारी दर्शनशक्ति विद्यमान रहती है; किन्तु शक्तिरूप से उसका प्रकाश नहीं रहता है, तुम्हारे साथ एकीभूत होकर रहती है; दर्शनकार्य समय पर तुम्हारे शक्तिरूप से वह प्रकाशित होती है। इसी प्रकार अपरापर शक्तियाँ भी कार्य-काल में शक्तिरूप से प्रकाशित होती हैं, अन्य समय तुममें लीन होकर तुम्हारे साथ अभिन्नभाव से रहती हैं। एक तथा अखण्ड होने पर भी तुम नानाविध-शक्ति-सम्पन्न हो; वे सब शक्तियाँ परस्पर विभिन्न होने पर भी, तुम्हारे स्वरूप के अन्तर्गत हैं, तुम्हारे साथ वे सभी एकीभूत हैं,—तुम्हारे साथ अभिन्न भाव से निजपार्थक्य-वर्जित होकर वे वर्तमान हैं, कार्य काल में विशेष विशेष नाम अवलम्बन कर (दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति इत्यादि नाम अवलम्बन कर) प्रकाशित होती हैं। परन्तु इन सब शक्तियों को तुम्हारे अंश के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? वे तुम्हारे अंश ही कही जायँगी। इन सब विशेष विशेष शक्तियों को उपलक्ष्य कर, तुम्हारे स्वयं नित्य अखण्ड होने पर भी, तुमको विशेष विशेष अंशयुक्त कह कर क्या तुम्हारा वर्णन नहीं किया जा सकता है? जैसे जब तुम्हारी दर्शनशक्ति प्रकाशित होती है, तब तुम दर्शनशक्ति-विशिष्ट नाम से वर्णित हो सकते हो, श्रवण-काल में तुम श्रवण-शक्ति-

विशिष्ट, गमन काल में तुम गमन-शक्ति-विशिष्ट, इत्यादि नाम से वर्णित हो सकते हो। ये सब अवस्थायें परस्पर विभिन्न हैं। उनमें से प्रत्येक में एक एक विशेषत्व है, परन्तु प्रत्येक विशेष अवस्था के अन्तरालय में, प्रत्येक के आश्रयरूप से, एक अखण्ड तुम सर्वदा ही वर्त्तमान हो। अतएव तुम्हारे एक अखण्ड होने पर भी तुम्हारे सम्बन्ध में समग्रदर्शन तथा व्यष्टिदर्शन—उभय-विध दर्शन— सम्भव हैं। समग्रशक्ति-युक्त रूप से तुम्हारा जो दर्शन है वही समग्र दर्शन है; और तुम्हारे विशेष विशेष शक्तिरूप अंशों के प्रति लक्ष्य कर, केवल उन उन शक्तिविशिष्ट रूपों से तुम्हारा जो दर्शन है उसी को व्यष्टिदर्शन कहते हैं। अतएव ये दोनों ही प्रकार के दर्शन (एक) तुम्हारे सम्बन्ध में सम्भव हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। तुम्हारे एक अखण्ड रहने पर भी शक्तिसमूह के प्रति लक्ष्य कर तुम्हारे व्यष्टिदर्शन की भी सम्भावना है। तुम्हारा अखण्ड रहना तथा तुम्हारा व्यष्टिरूप से दर्शन होना,—इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। ब्रह्म के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। वह अखण्ड और नित्य पूर्ण स्वभाव है, अथ च नित्य अनन्त-शक्तिसम्पन्न है; ये सब शक्तियाँ उसके विशेष विशेष अंश हैं; शक्ति-समूह में पारस्परिक पार्थक्य है; किन्तु प्रत्येक की उसके साथ अभिन्नता भी है। प्रत्येक शक्ति की द्विविध अवस्था है:—ब्रह्म के साथ एकत्वभाव से स्थिति एक, और शक्ति रूप से प्रकाशित होकर विशेष नाम, रूप से व्यक्त होना दूसरी। जैसे

दर्शनकार्य के न रहने के समय तुम्हारी दर्शनशक्ति तुम्हारे साथ लीन रहती है, किन्तु कार्य-काल में तुम्हारी एक विशेष शक्ति के रूप से प्रकाशित होती है,—तुम उस समय दर्शन-शक्ति-विशिष्ट रूप में ही लक्षित होते हो; वैसे ही सद्ब्रह्म, विशेष विशेष अनन्त-शक्ति-सम्पन्न रहने के कारण, विशेष विशेष नाम धारण कर अनन्त जगद्रूप से प्रकाशित होता है। प्रकाशित होने का तात्पर्य यह है कि चिति शक्ति की विषयी-भूत होती है, (ईश्वर को समग्र भाव से, और जीव की व्यष्टिभाव से, विषयीभूत होती है) पहिले ही मैंने कहा है कि, समग्र रूप से दर्शनकारी चिच्छक्तियुक्त सद्ब्रह्म ही का नाम ईश्वर है, और व्यष्टिरूप से दर्शनकारी चिच्छक्ति ही का नाम जीव है।

विषय—स्थूल जगत् कैसे ब्रह्म की शक्ति-मात्र कहा जा सकता है?

शिष्य:—सद्ब्रह्म चिच्छक्तियुक्त तथा अनन्त-शक्ति-सम्पन्न है और उसकी शक्ति की अनन्तता के कारण उस चिच्छक्ति के विषय भी अनन्त हैं; अतएव सम्यक् दर्शनकारी चित् (ईश्वर), और ईश्वर के अंशरूपी व्यष्टि दर्शनकारी चित् (जीवसमूह)—इन दोनों में जो भेदाभेद सम्बन्ध है वह अब समझ में आया। परन्तु आपने कहा है कि, यह विचित्र जगत् ब्रह्म का शक्तिस्वरूप है, प्रकाशित अवस्था में पृथक् पृथक् होता है, किन्तु वास्तव में उसके साथ एकीभूत है; जैसे मेरी दर्शनशक्ति

कार्य-काल में दर्शन शक्ति नाम से प्रकाशित होती है, अन्य समय मुझमें लीन होकर रहती है। परन्तु शेषोक्त वाक्य का तात्पर्य अभी तक मेरी समझ में नहीं आया। जगत् जड़ वस्तु तथा बृहत् है; तन्मध्यस्थित प्रस्तरादि अति कठिन हैं; परन्तु शक्ति अति सूक्ष्म है, दृष्टतः शक्ति का कोई भी अवयव नहीं है, केवल कार्य-द्वारा उसकी सत्ता का परिचय होता है। अतएव दृश्यमान स्थूल जगत् शक्ति नाम से कैसे वर्णन किया जा सकता है? शक्ति-द्वारा यह चालित हो सकता है, यह दृष्ट, श्रुत, स्पृष्ट तथा आस्वादित हो सकता है; किन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता है कि, वह स्वयं किसी प्रकार शक्तिमात्र है। अतएव यह कैसे ब्रह्मशक्ति कहा जा सकता है, यह मुझे और स्पष्टरूप से समझाइये।

गुरुः—स्थूल और सूक्ष्म में जो प्रभेद तुम समझते हो, वास्तव में वह ठीक नहीं है। देखो, जलीय वाष्प अति सूक्ष्म है, उसका अस्तित्व तुम्हारी एक भी इन्द्रिय-द्वारा बोधगम्य नहीं होता है; एक आर्द्र वस्त्र शुष्क होने दो, इसमें विद्यमान जलीय-कणसमूह विश्लिष्ट (पृथक्) होकर वाष्पाकार अवलम्बन करता है और वस्त्र शुष्क हो जाता है; वस्त्र का जल विनाश को प्राप्त नहीं होता है, सूक्ष्म रूप धारण कर वस्त्र को परित्याग कर अदृश्य हो जाता है। सरोवर तथा नदी का जल इसी प्रकार उड़ जाता है। इस वाष्प के तुम्हारे समीपस्थ वायु में वर्तमान रहने पर भी, तुमको उसका बोध नहीं होता है।

वही वाष्प जब घनीभूत होकर मेघाकार में परिणत होता है, तब वह धूम्रवत् दृष्टिगोचर होता है; और भी अधिक घनीभूत होने से जलरूप धारण कर भूतल पर पतित होता है। कभी कभी उससे भी अधिक घनीभूत होने से प्रस्तरवत् कठिन बर्फ़ के आकार में परिणत होकर पृथ्वी पर पतित होता है। बर्फ़, जल तथा वाष्प—ये तीनों वास्तव में एक ही पदार्थ हैं। पृथ्वी की धूलि, मृत्तिका, प्रस्तरादि वस्तुयें स्थूल तथा कठिन और अवयव विशिष्ट हैं, यह सत्य है। परन्तु इनके भी परमाणु समूह अत्यन्त सूक्ष्म हैं; अग्नि में द्रवीभूत होकर प्रस्तर, मृत्तिकादि सभी वस्तुये तरल रूप धारण करती हैं, अग्नि के अधिक होने से अति सूक्ष्म वायवीय आकार धारण कर वायु के साथ एकीभूत होकर विचरण करती हैं। इस वायवीय अवस्था में वे तुम्हारी किसी इन्द्रिय-द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। एक काष्ठखण्ड को अतिस्थूल तथा कठिन समझते हो, अग्नि-संयोग से इसका अधिकांश वायवीय आकार धारण कर वायु के साथ एकीभूत हो उड़ जाता है। तुम अपनी किसी इन्द्रिय द्वारा उस सूक्ष्मावस्था में उसका अनुभव नहीं कर सकते हो। जागतिक समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध में ऐसा ही नियम है। कभी सूक्ष्म तथा कभी स्थूल होती है। वास्तव में जागतिक सभी पदार्थ अदृश्य सूक्ष्मावस्था ही से स्थूलाकार में प्रकाशित हुये हैं। अतएव स्थूल और सूक्ष्म का प्रभेद अति अकिञ्चित्कर है।

तुमने कहा है कि शक्ति और दृश्यवस्तु समूह को एक नहीं समझ सकते हो। साधारण दृष्टि में ऐसा ही समझ पड़ता है, यह सत्य है। किन्तु विचारपूर्वक देखने पर समझ सकोगे कि वास्तव में यह दृष्टतः प्रभेद भी अकिञ्चित्कर है। यह दृष्टान्त-द्वारा समझाता हूँ:—तुमने एक स्थूल पदार्थ का किसी दिन दर्शन किया, दर्शन करने के समय उसके विषय में तुमको ज्ञान हुआ; तत्पश्चात् तुम्हारे अन्य कार्य में प्रवृत्त होने के कारण अन्य स्थान में गमन करने पर फिर पूर्वदृष्ट पदार्थ तुम्हारे ज्ञान का विषयीभूत नहीं रहा, तुम उसे भूल गये। दीर्घकाल के पश्चात् किसी उद्दीपक कारण के उपस्थित होने से वह पूर्वदृष्ट पदार्थ तुम्हारे स्मृति-पथ में आरूढ़ होकर पुनः तुम्हारे ज्ञान का विषयीभूत हुआ। उस समय वह पूर्वदृष्ट पदार्थ तुम्हारे समक्ष नहीं है; ऐसा हो सकता है कि, उसका उस रूप में अस्तित्व भी उस समय विलुप्त हो गया हो। परन्तु दीर्घकाल के पश्चात् उसके तुम्हारी स्मृति में उदय होने के कारण, वह वर्तमानवत् तुम्हारे ज्ञानगम्य हुआ। अब चिन्तन कर देखो कि, तुम्हारी स्मृति में उदित वह रूप इतने दीर्घकाल-पर्यन्त कहाँ अवस्थित रहा। दत्तचित्त होकर चिन्तन करने से समझ सकोगे कि, तुम्हारी दर्शनेन्द्रिय जैसे दर्शन-कार्य-काल में प्रकाशित होती है, अन्य समय तुम्हारी बुद्धि के साथ एकता-प्राप्त होकर अदृश्यभाव से अवस्थित रहती है, और दर्शन कार्य के समय पुनः प्रकाशित होती है; वैसे ही इस पूर्वदृष्ट स्थूल पदार्थ

के प्रथम दर्शन समय में तुम्हारी बुद्धि में अपना स्वरूप अङ्कित करने के कारण, वह तुम्हारे दर्शन का विषय हुआ था; किन्तु तत्पश्चात् तुम्हारे अन्यस्थान में गमन करने से तथा अन्य कार्य में संलग्न होने से, इसका ज्ञान विलुप्त हुआ था। परन्तु प्रथम दर्शन काल में तुम्हारी बुद्धि में इसका जो प्रतिबिम्ब पतित हुआ था, वह प्रतिबिम्ब बुद्धि के साथ एकीभूत होकर, तथा स्वीय नाम रूप विवर्जित होकर, बुद्धि ही में वर्तमान था, तदनन्तर किसी उद्दीपक कारण के उपस्थित होने से, पुनः स्वीय विशिष्टरूप से प्रकाशित होकर तुम्हारा बोधगम्य हुआ है। इसी का नाम स्मृति है। यदि दृष्ट पदार्थ समूह का रूप बुद्धिस्थित न होता, तो उसके सम्बन्ध में स्मृति का होना असम्भव होता; स्मृति के समय पूर्वदृष्ट बाह्य वस्तु वर्तमान नहीं रहती है, तथापि उसका ज्ञान होता है; परन्तु अस्तित्वहीन वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, पूर्वदृष्ट पदार्थ का रूप बुद्धि में वर्तमान रहा और स्मृति-काल में उद्दीपक कारण पाकर पुनः प्रकाशित हुआ है। अतएव जैसे तुम्हारी दर्शनशक्ति तुम्हारी बुद्धि के साथ एक होकर अप्र-काशित भाव से वर्तमान रहती है, और दर्शन का प्रयोजन उपस्थित होने से प्रकाशित होती है, ठीक वैसे ही दृष्ट बाह्य वस्तु का रूप भी बुद्धि के साथ एकीभूत होकर अप्रकाशित भाव से वर्तमान रहता है, और उद्दीपक कारण के उपस्थित होने पर पुनः प्रकाशित होकर बोधगम्य होता है। अतएव

बुद्धि के साथ एकता-प्राप्त होकर जैसे दर्शन-शक्ति वर्तमान रहती है, ठीक वैसे ही जब बाह्य वस्तु का स्थूलरूप भी बुद्धि में एकता-प्राप्त होकर वर्तमान रहता है,–जब बाह्य वस्तु का स्थूल रूप और दर्शन-शक्ति (दोनों ही) बुद्धि से अभिन्न होकर वर्तमान रहती हैं,—तब उस स्थूल रूप और दर्शन-शक्ति (दोनों ही) को एक बुद्धि ही का भिन्न भिन्न भाव से प्रकाशित रूप कहकर क्या बोधगम्य करना उचित नहीं है ? (बुद्धि ही का अन्यतर नाम चित्त है ऐसा जानना)। जब दोनों ही एक बुद्धि ही के विशेष विशेष प्रकाश भाव हैं, तो इनको समश्रेणी के पदार्थ कहकर निश्चय ही अवधारण करना उचित है। वास्तव में जगत्-सृष्टि व्यापार को विशेष रूप से निर्देश करते समय सांख्य-दर्शन-कार ने (तथा सांख्यदर्शन के ठीक अनुरूप पौराणिक-गणों ने पुराणसमूह में सर्वत्र) वर्णन किया है कि, एक बुद्धि-तत्त्व ही विकार-प्राप्त होकर अहंतत्त्व रूप से प्रकाशित होता है, और अहंतत्त्व विकार प्राप्त होकर एक ओर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पञ्च तन्मात्र, और इन पञ्च तन्मात्रों से आकाश, मरुत्, तेज, अप् और क्षिति क्रमशः प्रकाशित होती हैं; दूसरी ओर मन तथा दर्शन श्रवणादि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्म्मेन्द्रिय प्रकाशित होती हैं। इन सब इन्द्रियों के विषयरूप से पूर्वोक्त शब्दादि पञ्च तन्मात्र तथा आकाशादि पञ्च महाभूत वर्तमान रहते हैं। इन सब तत्त्वों के प्रकाशित होने की प्रणाली पूर्वोक्त "ब्रह्मवादी ऋषि तथा ब्रह्मविद्या" ग्रन्थान्त-

गत तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में विशेष रूप से वर्णित है, इसके पढ़ने से इसको भली भाँति समझ सकोगे। अतएव रूपादि विशिष्ट जागतिक वस्तुसमूह तथा दर्शनादि शक्ति-समूह में वस्तुत: कोई प्रभेद नहीं है, ये सभी एक बुद्धि ही के प्रकाशित अवस्थाभेद मात्र हैं।

विषय—यह दृष्टिगोचर होता कि कर्म्मद्वारा नूतन नूतन वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, ब्रह्म में वस्तुसमूह के नित्य प्रतिष्ठित रहने से यह कैसे संभव है ?

शिष्य:—अब मैंने समझा कि दर्शनादि शक्ति तथा रूप-रसादि वस्तुसमूह बुद्धि ही के विकार हैं, इनमें जो भेद मैं समझता था वह नहीं है, यह भी मैं समझ गया; किन्तु मेरा संशय सम्पूर्ण रूप से नहीं मिटा। ऐसा बोध होता है कि, प्रत्येक वस्तु अपनी कारणरूपी वस्तु की कर्म्मचेष्टा (किसी न किसी व्यापार) द्वारा उत्पन्न होती है। वस्तु की उत्पत्ति उसी व्यापार का फल है। नूतन उत्पन्न वस्तु कारण का कार्यस्वरूप प्रतीत होती है। आपने कहा है कि, जागतिक समस्त वस्तुयें सद्ब्रह्म के साथ एक होकर नित्य प्रतिष्ठित हैं। तो हम लोग जो कार्य-कारण-संबन्ध देखते हैं, और कारण वस्तुओं की शक्ति-प्रयोग रूप चेष्टा-द्वारा कार्य वस्तुओं का उत्पन्न होना जो हमें प्रतीत होता है, यह कैसे संभव है ? कारण वस्तु में अपनी शक्ति के प्रयोग-द्वारा कार्य वस्तुओं के उत्पत्ति विषयक बाधा समूह को दूर कर, और कभी कभी दो तीन अथवा अधिक

वस्तुओं को एकत्रित कर, कार्य-वस्तुओं को उत्पादन करती हैं, यही सर्वदा दृष्टिगोचर होता है; तो कैसे यह धारणा की जा सकती है कि, कार्य वस्तुएँ भी शक्तियों की भाँति सद्ब्रह्म में नित्य प्रतिष्ठित हैं ?

गुरुः—इसमें सन्देह नहीं है कि, तुम्हारा यह संशय अधिकांश मनुष्यों के मन में उत्पन्न हुआ करता है। परन्तु दत्तचित्त होकर विचार करने से ज्ञात होगा कि, यह सन्देह अमूलक है। देखो, जड़ जगत् में सर्वत्र ऐसा ही कार्य-कारण-भाव दृष्ट होता है; ऐसा अनुभव सदैव हुआ करता है कि, प्रत्येक वस्तु नूतन रूप से उत्पन्न होती रहती है। परन्तु जड़ जगत् का समस्त व्यापार एक अलङ्घनीय नियमाधीन है, यह (सिद्धान्त) जड़ विज्ञान से भी निश्चित रूप से ज्ञात होता है। ये सब नियम (laws) जिस परिमाण से हम लोगों के ज्ञान के विषयोभूत होते रहते हैं, उसी परिमाण से हम लोग भविष्यत्-घटनावली के विषय में भविष्यत्-वाणी प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं। तूफ़ान आदि के उपस्थित होने के कुछ पूर्व ही उसका विज्ञापन गवर्नमेंट कभी कभी प्रकाशित करती है। अद्यापि भारतवर्ष में ऐसे ज्योतिषी हैं जो तुम्हारे जीवन की प्रत्येक भविष्यत्-घटना, गणना-द्वारा उन सब घटनाओं के घटित होने के बहुत पूर्व, निश्चित रूप से अवधारण कर सकते हैं; अतएव यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि, इन सब घटनाओं का प्रकाशित होना पूर्वा-

वधि अवधारित है। यदि जागतिक समस्त नियमों का विज्ञान हम लोगों में हो, तो जागतिक सभी घटनाओं का भविष्यत्-ज्ञान हम लोगों में उपजात होना सम्भव है। कोई कोई योगी पुरुष तुम्हारे भूत, भविष्यत्-भाग्य, तथा भूत, भविष्यत् कर्म और सुखदु:खादि के कह देने में समर्थ हैं; इस विषय में भारतवर्ष में अद्यापि प्रमाणाभाव नहीं है। परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है; इन सब जागतिक नियमों का नियन्ता वही है। अतएव भूत भविष्यत् और वर्तमान में प्रकाशित समस्त घटनायें उसके ज्ञान में नित्य प्रतिष्ठित हैं, यह कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? यदि ईश्वर ज्ञान में सभी का नित्य प्रतिष्ठित रहना सत्य है, तो जो प्रतिष्ठित हैं, वेही जीव ज्ञान में एक के पश्चात् दूसरी प्रकाशित होती है, यह मानना पड़ेगा। वस्तुसमूह की नूतन उत्पत्ति होना जो हम लोग बोध करते हैं, उसका कारण यह है कि, वे सब पहिले से हम लोगों के ज्ञान के विषय नहीं रहती हैं, पश्चात् प्रकाशित होती हैं। परन्तु यह हम लोग धारणा नहीं कर सकते हैं कि, वे एका-एक "नहीं" से अकस्मात् स्वयं प्रकाशित हुई हैं। कोई जीव ऐसा विचार नहीं कर सकता है कि, कोई वस्तु बिना किसी कारण, एकाएक "नहीं" अवस्था से, अकस्मात् उपस्थित हुई। कोई उपादान कारण किसी निमित्त-कारण द्वारा चालित होकर नूतन वस्तुरूप से प्रकाशित हुआ है, यही सर्वसाधारण की धारणा है। निमित्त कारण-रूप कुम्भकार उपादान कारण-

रूप मृत्तिका का अवलम्बन कर निज व्यापार-द्वारा मृत्तिका को कुम्भरूप में परिणत करता है, यही सर्वत्र दृष्ट होता है, तथा सत्य है। वास्तव में सभी वस्तुएँ सद्‌ब्रह्म में नित्य प्रतिष्ठित हैं, यह मैं पहिले ही वर्णन कर चुका हूँ। कोई भी वस्तु "नास्ति" अवस्था से प्रकाशित नहीं होती है; अतएव सर्व-साधारण जीवों की यह शेषोक्त धारणा सम्पूर्ण सत्य है, अमूलक नहीं। परन्तु सद्‌ब्रह्म में प्रतिष्ठित प्रत्येक वस्तु पूर्व तथा परवर्त्ती अपर वस्तुओं के साथ युक्त होकर जीव की बुद्धि में प्रकाशित होती है। जिस वस्तु के पश्चात् जो प्रकाशित होगी उसका अलङ्घनीय नियम है। जिस वस्तु के पूर्ववर्त्ती न होने से परवर्त्ती वस्तु का प्रकाश नहीं होता है, परवर्ती वस्तु का ज्ञान जिस स्थल में उपजात होता है, उस पूर्ववर्त्ती वस्तु का भी ज्ञान उसी उसी स्थल में सदैव होता रहता है; ऐसा जिन जिन स्थलों में हम लोग देखते हैं, उन्हीं उन्हीं स्थलों में उन वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध कहकर वर्णन करते हैं। वास्तव में जिसको कारणवस्तु का व्यापार कहते हैं, वह भी एक एक विशेष अवस्था का क्रमिक प्रकाशमात्र है। सम्पूर्ण कुम्भाकार में परिणत होने के पूर्व मृत्तिका-पिण्ड का जिन जिन अवस्थाओं को प्राप्त होना हम लोगों को लक्षित होता है, वे सब अवस्थायें भी क्रमिक क्षणव्यापी बहु अवस्थाओं की समष्टि-मात्र हैं। एक दृष्टान्त-द्वारा यह और भी सरल करके समझाता हूँ। तुम लोगों ने बायस्कोप (Bioscope)

यन्त्र देखा है; उसमें कभी ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि, एक मनुष्य किसी स्थान से कुछ द्रव्य अपहरण कर भगा; चोर को वस्तु लिये जाते हुए देख गृहस्थ तलवार हाथ में लेकर उसके पीछे दौड़ा; नाना गलियों, पहाड़ों तथा जङ्गलों को अतिक्रम कर, गृहस्थ के चोर के समीपस्थ होने पर, दोनों लड़ने लगे; लड़ाई करते करते गृहस्थ ने तलवार-द्वारा चोर का शिरश्छेद कर अपनी वस्तु का उद्धार किया, इत्यादि। वास्तव में ऐसी घटनाओं के घटने के समय कोई मनुष्य उपस्थित रह कर जिस भाँति उन घटनाओं को सत्यरूप में देखता है, पश्चात् बायस्कोप-यन्त्र-द्वारा ठीक वैसे ही वे घटनायें दूसरे को भी दिखाई जाती हैं। सत्य घटनासमूह के घटित होने के समय प्रतिमुहूर्त्त उन घटनाओं के जो जो रूप दृष्ट हुये थे, उनका फोटोग्राफ (चित्रण) क्रम से अति द्रुतवेग से ग्रहण कर रक्षित किया जाता है; उन सब फोटोग्राफों को यन्त्रारूढ़ कर द्रुत वेग से एक के पश्चात् दूसरा क्रमानुसार दर्शकवृन्द को प्रदर्शित किया जाता है। सत्य घटना के घटित होने के समय जिस प्रकार एक कार्यवत् और अन्य कारणवत् अनुभूत होता है, बायस्कोप-यन्त्रस्थ चित्रों को क्रम से प्रदर्शित करने के समय भी ठीक वैसे ही उन सब घटनाओं का कार्य-कारण-सम्बन्ध में अवस्थित रहना दृष्ट होता है, इन दोनों अवस्थाओं में कोई प्रभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि, बायस्कोप

दर्शन के समय दृश्य पदार्थ-समूह (चित्र-समूह) का केवल क्रम से दर्शन-मात्र होता है, उनमें पारस्परिक अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। उनमें कारण-स्थानीय जिस पदार्थ का रहना स्थूल चक्षु से दृष्ट होता है, वास्तव में कार्य-स्थानीय वस्तु के प्रकाशन-विषय में उस दृष्टतः कारण-स्थानीय वस्तु का कोई भी कर्तृत्व नहीं है, वे तुम्हारे निकट केवल निर्धारित क्रम से प्रकाशित हुई हैं। ब्रह्म की सत्ता में इस भाँति जागतिक समस्त चित्र प्रतिष्ठित हैं। मैंने पहिले ही कहा है कि, जीव कालशक्ति के अधीन है; अतएव जीवज्ञान में वे समस्त चित्र क्रम से प्रकाशित होते हैं। दो वस्तुओं के एक विशेष अवस्था में प्रकाशित होने पर उनमें जो सम्बन्ध है, उसी को हम लोग कार्य-कारण-सम्बन्ध कह कर बोध करते हैं, तथा ऐसी ही उसकी व्याख्या करते हैं। देखो, जब तुम स्वयं किसी अङ्ग का चालन करना बोध करते हो, तब उस अङ्ग की ही विशेष विशेष अवस्थाओं का ज्ञान तुमको क्रम से होता रहता है। तुम कहते हो कि, एक प्रस्तर को ठेलने में तुम शक्ति-प्रयोग करते हो; ठेलने के कार्य में तुम्हारे शरीरस्थ अङ्गसमूह की जो जो विशेष विशेष अवस्थायें प्रकाशित होती हैं, उनके अनुभव के अतिरिक्त उस शक्ति के सम्बन्ध में तुमको और क्या ज्ञान हो सकता है? द्रुतवेग से अनुभव-समूह परिवर्तित होता रहता है, तन्निमित्त उस विषय में तुम्हारी एक धारावाहिक एकत्व-बुद्धि उत्पन्न होती

हैं। जैसे भिन्न भिन्न जलबिन्दु द्रुतवेग से संलग्न होकर क्रम से नदी में चलते रहते हैं, किन्तु तत्समस्त एक नदी के रूप में ज्ञात होते हैं; तथा जिस प्रकार प्रदीप शिखा के प्रति मुहूर्त्त नूतन होने पर भी एक अखण्ड प्रदीप शिखा प्रतीत होती है, यह भी वैसे ही जानना। प्रत्येक मुहूर्त्त में परिवर्तित होने पर भी, संलग्नभाव से अनुभूति के विषय होने के कारण, उन सभों को (कार्य-कारण-सम्बन्धी अवस्थाओं को) प्रवाह रूप में स्थित एक वस्तु कह कर बोध करते हो।

परन्तु तुम्हें जो यह प्रतीत होता है कि, तुम्हारी शक्ति ही प्रवाह-रूप से गमन कर कार्यसमूह को प्रकाशित करती है, उसका एक सत्य कारण भी है, तुम्हारा यह बोध निपट अलीक नहीं है। देखो, तुम्हारे निज सम्बन्धी सर्वविध शक्ति-प्रयोग-कार्य में तुम्हारा निज एकत्व बोध सदैव अनिवार्य-रूप से वर्तमान रहता है; दर्शनकार्य भी तुम्हारा है, श्रवण-कार्य भी तुम्हारा है, स्पर्श कार्य भी तुम्हारा है; बाल्यकाल में जो तुम थे, यौवन-काल में भी वही तुम हो, तथा वार्धक्य में भी वही तुम रहोगे; सुस्थावस्था में जो तुम हो, असुस्था-वस्था में भी वही तुम रहते हो; तुम्हारा निज-एकत्व बोध सर्वा-वस्था में ही समभाव से प्रत्येक विषय की अनुभूति के साथ वर्तमान है। यह एकत्व-बोध अलङ्घनीय है, परन्तु यह भ्रम नहीं है। कारण, मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि, एक सद्ब्रह्म ही सद्वस्तु है, वह चिच्छक्तियुक्त है; भिन्न भिन्न दर्शनशक्तियाँ

उसी की एक चिच्छक्ति के अन्तर्भूत हैं। इसी भिन्न भिन्न दर्शनशक्ति युक्त सद्ब्रह्म का नाम जीव है। अतएव वह प्रत्येक दर्शनकाय के मूल में अवस्थित है; और जब दर्शन-स्थानीय सभी उसके स्वरूपान्तर्गत हैं—जब कारण वस्तु भी वह है, कार्य-वस्तु भी वह है, तथा जिसको कारण वस्तु की व्यापारावस्था कहते हैं वह भी वही है—तो एक कारण वस्तु ही के कार्य-रूपता प्राप्त करने का जो तुम्हारा अनिवार्य बोध है वह केवल अलीक भ्रममात्र नहीं कहा जा सकता है। कारण-वस्तु ही एक विशेष रूप विशिष्ट होकर कार्यरूप से प्रकाशित होती है। यह सत्य है कि विशेष विशेष रूप रसादि गुणसमष्टि का आश्रय एक सद्ब्रह्म है। अतएव तुम्हारी धारणा अमूलक नहीं है; तुम्हारे निज-अङ्गीभूत व्यापार-समूह को आश्रय-रूपी एक अखण्ड तुम्हारा ही व्यापार कह कर तुम्हारा जो बोध है, वह भी अलीक नहीं है। तुम्हारी निज सम्बन्धी इसी धारणा को दृष्ट बाह्य वस्तु के व्यापार-सम्बन्ध में आरोपित कर, उस बाह्य वस्तु का भी उस व्यापार के प्रवाहरूप में एकत्व बोध तुम में उपजात होता है। यह भी मिथ्या नहीं है; कारण विशेष विशेष रूप-रसादि-गुणसमष्टि की आश्रयभूत गुणी वस्तु एक सद्ब्रह्म है; तुम्हारा आश्रयीभूत जैसे सद्ब्रह्म है, वैसे ही प्रत्येक बाह्यरूप का भी आश्रयस्थानीय सद्ब्रह्म है। वह स्वीय चिति-शक्ति द्वारा एक ओर द्रष्टा जीवरूप से, दूसरी ओर दृश्य वस्तुरूप से प्रकाशित होता है। तुम्हारे बाह्य रूप

और शक्ति के व्यापार का परिवर्तन अहर्निश होता रहता है, उसमें भी तुम एक ही रहते हो, और एक रह कर व्यापार समूह सम्पादित करते हुये बालक, युवा, वृद्ध, दुःखी, सुखी, इत्यादि विभिन्न रूप से प्रकाशित होते हो। इन सबके देखने पर तुममें यह धारणा अलङ्घनीयरूप से वर्तमान होती है कि, बाह्य वस्तु के रूपरसादि के परिवर्तन के साथ एक स्थायी पदार्थ है, और वही स्थायी पदार्थ स्वयं एक रह कर केवल रूप-रसादि गुण विषय में परिवर्तित होता रहता है; यह धारणा सत्य है, अमूलक नहीं। बाह्य स्वरूप सम्बन्ध में विशेष विशेष शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध मात्र तुम अपनी पञ्च ज्ञानेन्द्रिय द्वारा जानते हो; वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रतिमुहूर्त्त परिवर्तित होते रहते हैं; तथापि उस वस्तु के पूर्वापर एकत्व विषय में तुम्हारा बोध अनिवार्य है। एक गुलाब की कली को अद्य एक स्थान पर देखने से, दो दिन पश्चात् उसके समस्त अङ्ग के परिवर्तित हो जाने पर भी—उसके रूप-रसादि समस्त के परिवर्तित हो जाने पर भी—पूर्व दृष्ट गुलाब की कली तथा पर दृष्ट शुष्क गुलाब ये दोनों एक ही वस्तु हैं, ऐसी अलङ्घनीय धारणा तुमको होती है। यह धारणा मिथ्या नहीं है। इसका कारण यह है कि तुमको एक अलङ्घनीय धारणा है कि, वे रूपरसादि एक स्थायी वस्तु के गुणमात्र हैं; अतएव रूपरसादि गुण के परिवर्तित होने पर भी, उनके आश्रयस्थानीय गुणी वस्तु का एकत्व बोध तुममें सदैव वर्तमान रहता है। उस

आश्रय वस्तु का स्वरूप तुम्हारी इन्द्रियों के ग्राह्य नहीं है; किन्तु इसके स्थायित्व के सम्बन्ध में तुम्हारी धारणा किसी प्रकार विनष्ट नहीं होती है। यह आश्रय वस्तु सद्ब्रह्म है; और मैंने पहिले ही कहा है कि, वही सत् सदैव चिच्छक्ति-विशिष्ट है; अपर समस्त शक्तियाँ उस चिच्छक्ति के अन्तर्गत हैं। सर्वविध जागतिक शक्तिविषयक तुम्हारा ज्ञान भी तुम्हारी निज-स्वरूपगत चिच्छक्ति के अनुभव से उपजात होता है। इसी चिच्छक्ति का अपर नाम ईक्षण अथवा दर्शन-शक्ति अथवा चितिशक्ति है; यह ईक्षण-शक्ति जगत्-व्यापार-प्रकाश का मूल है। श्रुति ने अनेक स्थलों में ऐसा वर्णन किया है; यथा छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है :—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्
तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति।"

अर्थः—हे सौम्य, दृश्यमान यह जगत् अग्रे (अर्थात् रूपादि-द्वारा विशेष रूप से प्रकाशित होने के पूर्व) सद्रूप (सद्ब्रह्म रूप) में वर्तमान था। उसी सत् ने इस प्रकार "ईक्षण" किया कि मैं बहु होऊँ, मेरा बहु रूप से प्रकाश हो।

इस श्रुति तथा इस प्रकार के अन्यान्य श्रुतियों के द्वारा यह सारतत्त्व प्रकाशित हुआ है कि, भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में प्रकाशित समग्र जगत् सद्रूप ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त होकर अवस्थित है। अपनी ईक्षणशक्ति के प्रभाव से वह स्वयं अपने ही को अनन्त जगद्रूप में प्रकाशित (दर्शन) किया करता

है। परन्तु इस स्थल में उपरोक्त श्रुति के उल्लिखित "आसीत्" पद के अतीतकालवाची होने से, ऐसा मत समझो कि "सत्" रूप ब्रह्म की ईक्षणशक्ति का किसी काल में अभाव था, और कालान्तर में वह प्रादुर्भूत हुई। किसी की शक्ति किसी समय रहती है, और कालान्तर में नहीं रहती, ऐसा होने से उस शक्तिमान् को परिवर्तनशील कहना पड़ता है; अतएव ब्रह्म परिणामी हो जाता है। किन्तु ब्रह्म सम्बन्ध में परिणामित्व का निषेध असंख्य श्रुतियों ने किया है; वह सर्वदा एकरस अक्षर है। जो कुछ परिवर्तनशील है, वह क्षर—विनाशधर्मशील है। अतएव ब्रह्म का परिणामशीलत्व सर्वविध शास्त्रों के अग्राह्य है; उसके परिवर्तनशील अतएव कालाधीन होने पर जीव के साथ उसका कोई भी पार्थक्य नहीं रहता, तथा वह अनीश्वर हो जाता। तो पूर्वोक्त छान्दोग्यप्रभृति श्रुतियों ने जो अतीतकालवाची "आसीत्" पद का व्यवहार किया है, वह केवल इतना ही समझाने के लिए कि, जगत् की प्रकाशित अवस्था के अतीत (अर्थात् दृष्टि की अविषयीभूत) जगत् की ब्रह्मरूपता है। क्यों अब तो तुम्हारा संशय विगत हुआ?

विषयः—ब्रह्म ही में वस्तुनिचय के नित्य प्रतिष्ठित रहने पर तथा द्रष्टा जीव के भी ब्रह्म के अङ्गीभूत होने पर, वस्तु-समूह का पृथक्रूप से रहना कैसे सम्भव है?

शिष्यः—हाँ, अब मुझे ज्ञात होता है कि मेरा संशय अधिकांश विगत हो गया, किन्तु एक विषय और भी परि-

ष्कृत रूप से श्रवण करने की इच्छा है। ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है, उसी में समस्त जगत् प्रतिष्ठित है, उसके बाहर कुछ नहीं है; तो उसमें वर्तमान रहने पर भी, किस प्रकार फिर जगत् का उससे बाहर पृथक् रूप से रहना उसी की जीव शक्ति को दृष्टिगोचर हो सकता है,—अभी तक उत्तम रूप से इस विषय की धारणा मैं नहीं कर सका। मेरी निज दर्शनादि शक्तियों के जो दृष्टान्त आपने दिये हैं, वे सब शक्तियाँ कार्यकाल में मानो मुझसे निकल कर मेरे बहिःस्थित वस्तुओं के रूपादिविषयक ज्ञान प्राप्त करती हैं; समस्त वस्तुओं के मुझमें वर्तमान रहने से वस्तुसमूह का विभिन्नत्व-बोध कैसे सम्भव है? यह विषय और भी परिष्कृत रूप से सुनना चाहता हूँ।

गुरुः—इस विषय के बोध के हेतु मैंने पहले ही वर्णन किया है कि, एक प्रस्तरखण्ड के अभ्यन्तर कृष्ण, काली, दुर्गा, इत्यादि नाना मूर्तियों का दर्शन हो सकता है और होता है। प्रस्तर खोद कर मूर्तिसमूह के प्रकाशित करने के पूर्व भी जिस प्रकार वे सब मूर्त्तियाँ प्रस्तरखण्ड की अङ्गीभूत होकर वर्तमान थीं, प्रस्तर के अपर अंशों को खोदकर बहिष्कृत कर किसी विशेष मूर्ति के प्रकाशित करने के पश्चात् भी, वह मूर्ति प्रस्तर की अङ्गीभूत ही होकर वर्तमान रहती है; परन्तु यह बोध होता है कि वह नूतन रूप से प्रकाशित हुई है। जो हो, अपर दृष्टान्त-द्वारा इस विषय का और भी परिष्कृत करता हूँ। पहिले ही मैंने तुम्हारी स्मृति-शक्ति के विषय में कहा है कि,

अतीत-काल में दृष्ट वस्तु की स्मृति तुमको होती है, यह सत्य है; किन्तु पश्चात्-स्मृति के समय तो वह बाह्य वस्तु वर्तमान नहीं रहती; जिस रूप का ज्ञान स्मृति के समय होता है, वह तो तुम्हारी निज बुद्धि में अवस्थित है, बाहर तो नहीं; तथापि तुम उसको बाह्य वस्तु ही समझते हो। इस प्रकार जितनी कल्पनायें तुम किया करते हो, वे सभी तो तुम्हारी बुद्धि में स्थित हैं, तुम्हारे बाहर तो कल्पना दृष्ट कोई भी वस्तु नहीं है; तथापि प्रत्यक्ष की भाँति उन सब वस्तुओं को कल्पना काल में अपने से पृथक् वस्तुएँ कहकर बोध करते हो। स्वप्न में तो बहुत कुछ कार्य करते हो, कितने नूतन तथा पुरातन स्थान, कितनी वस्तुएँ, कितने मनुष्यादि देखते हो; वे सब तो वास्तव में तुम्हारे बाहर स्थित नहीं हैं, तुम्हारी बुद्धि ही में स्थित हैं, कल्पनाशक्ति के बल से प्रकाशित हैं; तथापि उनके संबन्ध में ठीक प्रत्यक्षवत् ज्ञान तुमको होता है। स्वप्नावस्था में तुम स्वयं निद्रित रहते हो, तथापि एकांश में कर्मकर्त्ता होकर स्वप्न में नानाविध कार्य करते हो, तथा नानाविध दर्शनादि करते हो। ब्रह्म सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना। अब क्या यह विषय परिष्कृत हुआ?

विषय—ब्रह्म सद्रूप है, पर क्या इस सत् का कोई विशेषण नहीं है जिसके द्वारा उसका स्वरूप अवगत हो सके?

शिष्य:—अब तो बोध होता है कि और संशय नहीं है; सद्ब्रह्म ही अनन्त-रूपी जगत् का आश्रय है, और

इसी सद्रूप में जगत् प्रतिष्ठित रह कर अनन्त विभिन्न रूप से उसकी चिच्छक्ति द्वारा दृष्ट तथा अनुभूत होता है; जीव सम्यक् चिच्छक्ति का अंश विशेष है; अतएव सम्यक् द्रष्टा ईश्वर और जीव में अंशांशी (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध है; यह मुझे ज्ञात हुआ। प्रत्येक दृश्य पदार्थ का आश्रयभूत होकर पूर्ण सद्ब्रह्म वर्तमान है यह भी मैं समझ गया।

परन्तु ब्रह्म की स्वरूप-व्याख्या करने में आपने केवल "सत्" शब्द का व्यवहार किया है; यह "सत्" शब्द केवल अस्तित्वबोधक है, इसके द्वारा केवल यही बोध हुआ कि ब्रह्म है; किन्तु उसका स्वरूप कैसा है, इसको बोधगम्य करने का क्या कोई उपाय नहीं है? क्या उसका कुछ भी आभास नहीं मिल सकता? इस विषय के जानने की अभिलाषा है।

गुरुः—प्रकाशित जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके साथ ब्रह्म के उस सद्रूप की यथार्थ रूप से तुलना हो सके। जगत् गुणात्मक है, यह मैं पहिले ही कह चुका हूँ; सद्ब्रह्म गुणी—गुणसमूह का आश्रय—है। दृश्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि का आश्रयीभूत, स्थायी, अपरिवर्तनीय, सद्वस्तु ही सद्ब्रह्म है। किन्तु वह आश्रय वस्तु किसी इन्द्रिय-द्वारा ग्राह्य नहीं है। अतएव भाषाद्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं है। इसके किञ्चित् आभास-मात्र की श्रुति ने "आनन्दमय" शब्द-द्वारा व्याख्या की है। श्रुति ने कहा है—ब्रह्म आनन्दमय, रसमय तथा सुखमय है; निरवच्छिन्न आनन्द ही उसका स्वरूप है।

जैसे एक ओर छान्दोग्य श्रुति ने कहा है कि, "सदेव सौम्येदमग्र आसीद्" इत्यादि, इस पूर्ववर्णित वाक्य से समस्त जगत् सद्ब्रह्म ही से प्रकाशित हुआ है, तथा सद्ब्रह्म ही ने जगद्रूप से अपने को प्रकाशित किया है, ठीक वैसे ही तैत्तिरीयोपनिषद् ने भृगु-वरुण संवाद में कहा है:—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति ।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति"

अर्थात् (भृगु ने वर्णन किया) आनन्द ही ब्रह्म का रूप है; दृश्यमान जगत् आनन्द ही से जायमान होता है, जात होकर आनन्द ही में स्थित रह कर प्रकाशित होता है, और आनन्द ही में पुनः प्रत्यागत होकर उसी में प्रविष्ट होता है ।

तैत्तिरीय श्रुति ने पुनः कहा है:—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ।"

अर्थात् जो वाक्य और मन के अतीत है (जिसको वाक्य और मन न पाकर निवर्तित होते हैं), उसी ब्रह्म की आनन्दमयता के विज्ञात होने पर जीव सर्वप्रकार भयरहित होता है, अर्थात् अमृतत्व प्राप्त करता है ।

उसी श्रुति ने पुनः कहा है:—"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति .....एष ह्येवानन्दयति"। अर्थात् वही ब्रह्म रस (आनन्द) स्वरूप है; उस रसमय को प्राप्त कर जीव आनन्दमय होता है। ....यही एकमात्र आनन्ददाता है।

छान्दोग्योपनिषद् ने "भूमा" विद्याप्रकरण में उसी वाङ्मनोऽतीत ब्रह्म को "भूमा" (द्वैतरहित, एक, अनन्त) नाम से वर्णन किया है, और व्याख्या की है कि, वह अद्वितीय ब्रह्म ही सुख स्वरूप है। यथा:—"यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्" अर्थात् जो "भूमा" (अद्वितीय, महत्) है, वही सुखस्वरूप है, अल्प में सुख नहीं है, "भूमा" ही सुख है।

सुख और आनन्द एक ही अर्थबोधक हैं। दोनों श्रुतियाँ एक ही अर्थज्ञापक हैं। इसी प्रकार अनेक श्रुतियों में बारम्बार ब्रह्म को आनन्दमय कह कर वर्णन किया है। अतएव सद्ब्रह्म आनन्दमय है। किन्तु यह सदैव स्मरण रखना कि, यह आनन्द अचेतन आनन्द नहीं है, यह चिन्मय आनन्द है। इस आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त होने ही से जीव सर्वविध भय-वर्जित होता है और उसका सर्वविध क्लेश दूर होता है। इसके वर्णन करने में तैत्तिरीय श्रुति ने पुनः कहा है:—

"अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति"।

[एतस्मिन्—उत् (अपि) — अरम् (अल्पम्)—अन्तरम् (भेददर्शनम्) कुरुते] अर्थात् अनन्तर (आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त कर) जीव अभयपद (अमृतत्व) प्राप्त करता है। परन्तु यावत्पर्यन्त जीव की इस ब्रह्म में किञ्चिन्मात्र भी भेद-बुद्धि रहती है तावत्पर्यन्त उसको भय रहता है।

छान्दोग्य श्रुति ने भी "भूमा" विद्या प्रकरण में ठीक इसी प्रकार कहा है। यथाः—

"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं, तन्मर्त्यम्"।

अर्थात् जिसके व्यतिरिक्त अन्य कुछ दृष्ट नहीं होता, अन्य कुछ श्रुत नहीं होता, अन्य कुछ ज्ञात नहीं होता, वही "भूमा" है। और जिस स्थल में अन्य कुछ दृष्ट होता है, श्रुत होता है अथवा ज्ञात होता है, वह अल्प (परिच्छिन्न) है। जो भूमा है वह अमृत है। जो परिच्छिन्न है वह मरणशील है।

भगवान् वेदव्यास ने वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र में ब्रह्म क्या है, यह प्रश्न उत्थापित किया ("अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा")। इसके उत्तर में पहिले द्वितीय सूत्र में उन्होंने कहा है:—

"जन्माद्यस्य यतः"

अर्थात् इस विश्व के जन्मस्थितिलय जिससे होते हैं वही ब्रह्म है। अर्थात् जो इस विश्व का निमित्त तथा उपादान उभय-विध कारण है, जिसमें विश्व अवस्थित रह कर प्रकाशित होता है, और जिसमें लय प्राप्त होता है, वह विश्वातीत सद्वस्तु ही ब्रह्म है। (इस सूत्र द्वारा ब्रह्म की सद्रूपता—जगत्कारण-रूप से अस्तित्वशीलता-मात्र वर्णित की गई है।)

वेदान्तदर्शन के तृतीय और चतुर्थ सूत्रों में वेदव्यास भगवान् ने कहा है कि यह सर्वविध शास्त्र वाक्य-द्वारा प्रमाणित है। यथा:—

तृतीयसूत्रः—"शास्त्र-योनित्वात्।" शास्त्र ही इसका प्रमाण है।

चतुर्थसूत्रः—"तत्तु समन्वयात्।"

अस्यार्थः—(श्रुति में भिन्न भिन्न स्थानों पर जगत्कारण विषयक विभिन्न रूप की उक्तियाँ हैं, इसमें सन्देह नहीं); किन्तु समस्त वाक्यार्थों के समन्वय करने पर उसके द्वारा ब्रह्म ही की जगत्कारणता निश्चित रूप से सिद्ध होती है।

पञ्चम सूत्र में वेदव्यासजी ने वर्णन किया है कि, यही सद्ब्रह्म ईक्षणशक्ति (चिच्छक्ति) युक्त है। यथा:—

पञ्चमसूत्रः—"ईक्षतेर्नाशब्दम्।"

अस्यार्थः—जगत्कारण ईक्षणशक्तियुक्त कह कर श्रुति में

वर्णित है, अतएव अचेतन प्रकृति जगत्कारण नहीं है। (उसके ईक्षण से ही सृष्टि प्रकाशित हुई है ऐसा श्रुति ने वर्णन किया है। यथा:—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति।"

अर्थात् हे सौम्य, यह जगत् पूर्व में एक अद्वितीय सद्रूप में ही वर्तमान था, उसी सत् ने ईक्षण किया, मैं बहु होऊँ, बहुरूप से मेरा प्रकाश होवे)।

इस प्रकार पञ्चम सूत्र में सद्ब्रह्म की ईक्षणशक्तियुक्तता, और उसी ईक्षणशक्ति का जगत् का निमित्त-कारण होना वर्णन कर षष्ठ से द्वादश सूत्र पर्यन्त इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो सब आपत्तियाँ हो सकती हैं उनका भगवान् वेदव्यासजी ने खण्डन किया है। तत्पश्चात् त्रयोदश सूत्र में, जगत्कारण सद्ब्रह्म जो आनन्दमय है, और "आनन्दमय" शब्द द्वारा श्रुति ने इस सद्ब्रह्म ही का स्वरूप जो निर्दिष्ट किया है, यह भगवान् वेदव्यास ने निज सिद्धान्त कह कर वर्णन किया है। यथा:—

त्रयोदशसूत्र:—"आनन्दमयोऽभ्यासात्।"

अर्थात् ब्रह्म को आनन्दमय कह कर श्रुतियों ने पुनः पुनः उल्लेख किया है, अतएव ब्रह्म आनन्दमय है।

तत्पश्चात् कई एक सूत्रों में इस सिद्धान्त के विरुद्ध में जो सब आपत्तियाँ हो सकती हैं, उनका खण्डन किया है।

अतएव ब्रह्मस्वरूप के अवधारण करने में उसको सच्चिदानन्दमय कह कर शास्त्रों में वर्णन किया है। ब्रह्म स्वरूपतः आनन्दमय है। वह विद्यमान है--अस्तित्वशील दृश्य पदार्थ की भाँति परिवर्तनशील नहीं है, इस अर्थ में वह सत् है; अचेतन नहीं, अपनी आनन्दरूपता का अनुभव करता है, यही उसकी चिद्रूपता है। इसी चिच्छक्ति के अनन्त प्रकार के भेद हैं, यह पहिले कह चुका हूँ। जीव उसी चिच्छक्ति का अंश है, यह भी पहिले वर्णन कर चुका हूँ। अतएव जब स्वीय आश्रयस्थानीय यह अद्वितीय आनन्दमय सत्-स्वरूप जीव के निकट प्रकाशित होता है, तब वह भी आनन्दमय हो जाता है। यही उसकी मोक्षावस्था है।

ब्रह्म स्वकीय चिच्छक्तिद्वारा सदैव अपने आनन्द का अनुभव करता है। उसकी इस आनन्दानुभूति की कभी च्युति नहीं होती; कारण, उसका स्वरूपगत आनन्द अपरिसीम है। उसकी इस आनन्दानुभूति के प्रति लक्ष्य कर उसका "कृष्ण" नाम शास्त्रों में प्रकटित है। "कृष्"=उत्कृष्ट, "ण"=सुख। ब्रह्म उत्कृष्ट सुखात्मक है, इस अर्थ में उसने कृष्ण संज्ञा प्राप्त की है। "कृष्" शब्द का अर्थ आकर्षण भो है। आनन्दमय ब्रह्म सर्वचित्ताकर्षक है, इस कारण से भो उसकी "कृष्ण" संज्ञा है। वास्तव में आनन्दमय ब्रह्म ही से समस्त जगत् प्रकाशित हुआ है; पूर्वोद्धृत "आनन्दाद्ध्येव जातानि इमानि भूतानि" इत्यादि उपदेश श्रुतियों ने भी किया है। यह अविच्छिन्न आनन्दमय-

भाव बद्धजीव के अनुभवगम्य नहीं है; परन्तु आनन्दमय चिदंश ही जीव का स्वरूप है। अतएव इस आनन्दमयता की प्राप्ति की इच्छा जीव में स्वभावतः सदैव वर्तमान रहती है। जो कुछ कर्म्म-चेष्टा जीव में दृष्ट होती है, वह सभी आनन्दप्राप्ति के निमित्त है। किन्तु गुण मात्र का द्रष्टा बद्धजीव जगत् में उस अच्युत, अपरिसीम आनन्द को कभी प्राप्त नहीं करता है। गुणाश्रय ब्रह्म के दर्शन बिना केवल गुण दर्शन द्वारा उस अच्युत आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है? ऐसा नहीं है कि, गुणमय जगत् में आनन्द किञ्चिन्मात्र भी नहीं है; श्रुति ने भी कहा है कि, आनन्द ही से जगत् प्रतिष्ठित है ("आनन्देन जातानि जीवन्ति") आनन्द प्राप्ति की आशा ही में जीव का सर्व प्रकार जीवन-व्यापार संसाधित होता है, जगत् आनन्दमय ब्रह्म ही का विकार-स्थानीय है; अतएव उसमें भी कुछ कुछ आनन्द अवश्य है। सुन्दर दृश्य-दर्शन में आनन्द है, नृत्य में आनन्द है, संगीत में आनन्द है, व्यायाम में आनन्द है, आहार में आनन्द है, घ्राण में आनन्द है, स्पर्श में आनन्द है, मैथुन में आनन्द है, इस प्रकार सर्वत्र ही कुछ न कुछ आनन्द है। तो जगत् में मैथुनादि व्यापार में जो आनन्द देखा जाता है, वह अत्यल्प-क्षणस्थायी है; कारण जागतिक समस्त भोग्य विषय सदैव परिवर्तित होते रहते हैं। अतएव किसी जागतिक भोग्य विषय में जीव की स्थायी तृप्ति नहीं होती है। इसके साथ तुलना करने में ब्रह्मानन्द सम्पूर्ण रूप से अन्य

प्रकार की वस्तु है। इसके समझाने के निमित्त अन्य किसी प्रकार के शब्द नहीं हैं, अतएव श्रुति ने "आनन्दमय" शब्द का व्यवहार किया है। प्राचुर्यार्थ (प्रचुरता का अर्थ) प्रकाशित करने के निमित्त "आनन्द" शब्द के पश्चात् "मयट्" प्रत्यय का प्रयोग इस स्थल में श्रुति ने किया है। ब्रह्म स्वरूपतः प्रचुर-अपरिसीम, अच्युतानन्दरूप है, यही "आनन्दमय" शब्द द्वारा वर्णित है। इसी अच्युत, अनिर्वचनीय, अपरिसीम आनन्द का वह नित्य अनुभव (ईक्षण) करता है, इस अर्थ में ब्रह्म "कृष्ण" नाम से आख्यात है। ब्रह्म की ईक्षण शक्ति मानो अनुक्षण आनन्द को आलिङ्गन करती हुई वर्तमान रहती है। आनन्दांश को "राधा" नाम देकर, चिच्छक्तियुक्त सद्ब्रह्म (कृष्ण) मानो राधा को सदैव आलिङ्गन कर आनन्दानुभव करता है, इस प्रकार की भाषा का प्रयोग कर, पौराणिकों ने ब्रह्म की नित्य चिदानन्दता का जीवों को बोध कराने के निमित्त प्रयत्न किया है। "राधेत्येवञ्च संसिद्धा राकारो दानवाचकः। स्वयं निर्वाणधात्री या सा राधा परिकीर्तिता।" पूर्णानन्दमयता की प्राप्ति ही मोक्ष है, यह पहिले ही कह चुका हूँ। अतएव ब्रह्म की आनन्दमयता ही को पौराणिकों ने "राधा" नाम से आख्यात किया है। वास्तव में ब्रह्म की जिस व्यष्टिभाव की ईक्षण-शक्ति को जीव कहकर वर्णन किया है, वह अनादि-काल से उसके आनन्दमय सद्रूप का विकारस्थानीय कोई एक सूक्ष्म देह है, जो एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्रात्मक का अवलम्बन कर

सदैव वर्तमान है। इस सूक्ष्म देह के द्वारा देव तिर्यगादि नाना स्थूल देहों के साथ मिलित होकर जीव संसार भोग करता है। जब भाग्यवश उस जागतिक वस्तुसमूह के आश्रयीभूत ब्रह्म का दर्शन घटित होता है, तब वह जीव जीवन्मुक्त कहा जाता है। तब आश्रयस्थानीय उस परमवस्तु के दर्शन होने से उसके निज स्वरूप विषयक ज्ञान का उदय होता है, और उसको यह भी बोध होता है कि, जगत् आनन्दमय ब्रह्म ही से प्रकाशित है तथा ब्रह्म ही में स्थित है। तब वह निश्चितरूप से जान सकता है कि, जगत् सम्पूर्ण रूप से ब्रह्माधीन है; अतएव उसकी निजकर्तृत्व बुद्धि सम्पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाती है और सर्वविध कर्म्मों से वह निर्लिप्त होता है। उस अवस्था में उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। कर्तृत्वाभिमान के रहने के समय, जन्मान्तरकृत प्राक्तन कर्म्मफल के भोगने के निमित्त, वर्तमान स्थूल देह गठित होकर तदाश्रयीभूत रूप से उसका जन्म हुआ था। इस जन्म में जब उसने साधन-पथ का अवलम्बन किया था, तब उसमें यह इच्छा वर्तमान थी कि, वह ब्रह्मदर्शन करके जीवित रहे, साधन की परिपकावस्था में ब्रह्मदर्शन होने के पश्चात्, वह देह निमित्तक कर्म्म तथा सुखदुःखादि से निर्लिप्त हो जाता है; अतएव देहपात करने की इच्छा भी उस समय उस में उदित नहीं होती; ब्रह्मज्ञ होने पर भी देह के पूर्व संस्कार विलुप्त होने में कुछ विलम्ब होता है। अतएव ब्रह्मज्ञ होने के पश्चात् भी उसके अवशिष्ट प्राक्तन कर्म्मफल भोग के शेष न

रहने तक उसका देह जीवित रहता है। वह भोगानुकूल कर्म्म समूह करता रहता है। तब उसके सत्य-संकल्पत्वादि गुण आंशिकभाव से आविर्भूत होते हैं, परन्तु विशेष प्रयोजन बिना वह उनका व्यवहार नहीं करता है। कर्म्मभोग के समाप्त होने पर उसका सूक्ष्म देह उस स्थूल देह को परित्याग कर बहिर्गत होता है, और अर्चिरादि मार्ग में गमन कर पश्चात् ब्रह्मरूपता लाभ करता है—वही आनन्दरूपता पुनः उसको प्राप्त होती है, जिस आनन्दमय से उसका प्रकाश हुआ था। उस अवस्था में उस जीव को विदेहमुक्त कहते हैं; तब वह भी आनन्दमय होता है और नित्यानन्दानुभूति में मग्न रहता है। यह आनन्द स्थूलदेह-सम्बन्धी आनन्द से सम्पूर्ण रूप से विभिन्न है। जीवन्मुक्त पुरुषों में देह सम्बन्ध होने के कारण वह निर्मल आनन्दमयता नहीं उपजात होती; स्थूल देह-सम्बन्ध के विनष्ट हो जाने पर, जब सूक्ष्मदेह का भी पृथक् अस्तित्व विलुप्त होता है, तभी वे अबाधित निर्मल आनन्द लाभ करते हैं। इस अवस्था में उन लोगों को विदेहमुक्त कहते हैं।

वास्तव में जीव के कामक्रीड़ादि से उपजात क्षुद्रानन्द के साथ ब्रह्मानन्द की कोई भी तुलना नहीं हो सकती। यह काम-क्रीड़ा-जनित आनन्द अति स्थूल है, द्वैतबुद्धि के न रहने पर तो यह (आनन्द) साधारणतः उपजात होता ही नहीं। भोक्ता तथा भोग्य यह द्वैतभाव इसमें सदैव वर्तमान रहता है, परन्तु पूर्वोद्धृत श्रुतियों ने स्पष्टरूप से कहा है कि,

किञ्चिन्मात्र भी द्वैतभाव के वर्तमान रहने पर यथार्थ ब्रह्मानन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। काम-क्रीड़ा-जनित आनन्द सदैव विषाद में परिणत होता है। विच्छेदरूप-पीड़ा इसमें अवश्यम्भावी है; और यह आनन्द अति स्थूल आनन्द है। इसकी अपेक्षा उत्कृष्ट तथा निर्मल आनन्द की अनुभूति बद्धजीव में भी समय समय पर हुआ करती है। अतएव इस स्थूल काम-क्रीड़ा को कदापि अपना आदर्शस्थानीय न मानना। यह सर्वदा स्मरण रहे।

अब तो परब्रह्म का सच्चिदानन्दमयत्व तथा जीव-स्वरूप समझ गये होगे।

विषय—ब्रह्म की आनन्दमयता का ज्ञान जीव में क्यों नहीं रहता? जीव की बद्धावस्था कैसे होती है?

शिष्य:—हाँ, ब्रह्म का सच्चिदानन्दमयत्व एक प्रकार से समझ में आगया है; और जीव भी जो चिदंश और ईश्वराधीन है, यह भी समझ गया हूँ, ऐसा प्रतीत होता है। जगत् के बहुरूपी होने पर भी उसका एक सद्ब्रह्म में स्थित रहना समझ में आगया है। किन्तु जीव की बद्धावस्था किस निमित्त होती है, और आनन्दरूपता का दर्शन क्यों सदा नहीं होता है, इसका कारण अभी तक भली भाँति समझ में नहीं आया। अतएव पुनः विशेषरूप से इसकी व्याख्या कीजिये। इसकी व्याख्या करने के पश्चात् ब्रह्म के द्वितीय मूर्त्त रूप और अवतार तत्व की व्याख्या कीजियेगा।

गुरु:—मैं पहिले कह चुका हूँ कि, परब्रह्म नित्य चिच्छक्ति-युक्त है, वह अचेतन नहीं है, वह स्वयं अपने ही को ईक्षण करता है (देखता है)। दृश्यस्थानीय अनन्त जगत् उसके स्वरूप में एकता-प्राप्त होकर नित्य वर्तमान है। अपनी चिच्छक्ति द्वारा अनन्त विभिन्न रूप से वह स्वयं अपने को देखता है। उसकी चिच्छक्ति के निकट अनन्तरूप में भासमान् रहने पर भी, इस प्रकाशित अवस्था में भी जगत् उसी में प्रतिष्ठित है। मैंने पूर्व दृष्टान्त में एक प्रस्तर-खण्ड का उल्लेख किया है; विचार करने से समझ सकोगे कि, उस प्रस्तर-खण्ड के एक अविकृत अवस्था में रहने पर भी उसके केवल विशेष विशेष अंशों के प्रति दृष्टि निविष्ट करने से उसी एक अवि-कृत प्रस्तर-खण्ड में कृष्ण, काली, दुर्गा इत्यादि अनन्त रूपों का दर्शन हो सकता है। प्रस्तर में इन सब विशेष विशेष रूपों के तुम्हारी दृष्टि में प्रकाशित होने पर भी, जैसे प्रस्तर-खण्ड की एक अविकृतरूपता का किसी प्रकार अभाव नहीं होता, केवल दर्शन के पार्थक्य के कारण, अविकृत प्रस्तर-खण्ड में ही नाना प्रकार के रूप दृष्टिगोचर होते हैं; वैसे ही ब्रह्म के एक पूर्ण अद्वैतरूप से नित्य विराजमान रहने पर भी, उसकी चिच्छक्ति के अनन्त प्रभेद के कारण, उसमें अनन्तरूपता प्रकाशित होती है। यही उसका स्वरूप है। अनन्त विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ ब्रह्म के साथ एकरूपता प्राप्त होकर किस प्रकार रह सकती हैं, ऐसी शङ्का मत करो। देखो, तुम्हारे

स्मृति-पथ में आरूढ़ असङ्ख्य विभिन्न प्रकार के पदार्थों के रूप और तुम्हारी दर्शन श्रवणादि अशेष-विध शक्तियाँ, दृश्यतः परस्पर अनन्त-विभिन्नतायुक्त होने पर भी, तुम्हारी बुद्धि में एक रस होकर वर्तमान रहती हैं; यह पहिले ही विशेष रूप से वर्णन कर चुका हूँ। इस बुद्धि का स्वरूप ऐसा व्यापक है कि, इसमें ये अशेष विध शक्तियाँ भेदरहित भाव से वर्तमान रह सकती हैं। तुम्हारे प्रत्यक्षयोग्य और एक दृष्टान्त देता हूँ। आधुनिक पाश्चात्य पण्डितों ने अवधारित किया है कि, रङ्ग (colour) वास्तव में सात प्रकार के हैं:—violet, indigo, blue, green, yellow, orange, red (बैजनी, नील, हरित इत्यादि)। ये सातों प्रकार के रङ्ग परस्पर विभिन्न हैं, किन्तु इनका एकत्र मिलन शुक्ल वर्ण (white) में है। सातों रङ्ग एक साथ देखने से शुक्ल वर्ण प्रतीत होता है, परन्तु एक के पश्चात् दूसरे को देखने पर पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं। वह शुक्ल वर्ण इनमें किसी के अनुरूप नहीं है; किन्तु पूर्वोक्त सप्त वर्ण, पारस्परिक विभिन्नता-वर्जित होकर, शुक्ल रूप में अवस्थिति करते हैं। वैसे ही अनन्तरूप-विशिष्ट जगत् ब्रह्म के साथ एक होकर अभिन्न भाव से वर्तमान है। किन्तु वह प्रकाशित किसी वस्तु के अनुरूप नहीं है। परब्रह्म ऐसी अनिर्वचनीय व्यापक वस्तु है कि, अनन्तरूप-शक्ति-विशिष्ट सम्पूर्ण जगत् पारस्परिक विभिन्नता वर्जित भाव से उसके साथ एक रस होकर वर्तमान है। दृक्शक्ति (पुरुष), और

दृश्यस्थानीय अनन्त जगत् सभी पारस्परिक विभिन्नतावर्जित भाव से उसकी सत्ता के साथ एकीभूत होकर वर्तमान हैं। तुम्हारी बुद्धि के स्वरूप सम्बन्ध में पूर्वोल्लिखित दृष्टान्त में जिस अवस्था का वर्णन मैंने किया है, प्रस्तरखण्ड के दृष्टान्त में एक अविकृत प्रस्तरखण्ड में असंख्य विभिन्न रूपों की विद्यमानता, और अपर सप्तवर्ण-भेद-रहित अवस्था में शुक्ल वर्ण का वर्तमान रहना, जो मैं वर्णन कर चुका हूँ, इससे यह समझना कि ब्रह्म-स्वरूप में किसी का अभाव नहीं है और अनन्त-रूप-विशिष्ट जगत् उसके साथ एकता-प्राप्त होकर वर्तमान है।

ब्रह्म स्वयं ही इस अनन्तरूप में अपने को ईक्षण करता है। उसकी यह ईक्षण-शक्ति उसके सम्यक् रूप का दर्शन करती है। इस सम्यक्-दर्शन के अन्तर्गत प्रत्येक अङ्गविशेष का दर्शन वर्तमान है। तुम्हारे सम्मुखस्थित पूर्णस्तम्भ के दर्शन विषयक दृष्टान्त में पहिले ही इस विषय को विशेष रूप से वर्णन कर चुका हूँ। स्तम्भ के पूर्णाङ्ग-ज्ञान के अङ्गीभूत रूप से इसके प्रत्येक अङ्गविशेष और गुण का ज्ञान अवश्य वर्तमान है। यह अङ्गविशेष-सम्बन्धी ज्ञान जिसके द्वारा होता है, उसी का नाम व्यष्टिदर्शन शक्ति है। अङ्गविशेष का दर्शन समग्र दर्शन के नित्य अङ्गीभूत है। इसी प्रकार ब्रह्म के भी पूर्णदर्शन के अङ्गीभूत उसकी व्यष्टि दर्शन-शक्ति है। पूर्ण-दर्शन-कर्त्ता रूप में ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा होती है, व्यष्टि-

दर्शन-शक्ति-विशिष्ट रूप में उसकी जीव संज्ञा होती है। ब्रह्म की व्यष्टि-ज्ञान-शक्ति ही जीव है।

यह व्यष्टिदर्शन शक्ति नित्य ही उसके स्वरूप में अवस्थित है। इसका विषय समग्र ब्रह्म नहीं है, पर उसका विशेष विशेष अंशमात्र है। दर्शनस्थानीय वे समस्त अंश परस्पर भिन्न हैं; एक के दर्शन होने के पश्चात् ही उसको छोड़ आनन्द-लाभ के अन्वेषण में अपर एक के प्रति दर्शनशक्ति धावित होती है। यही व्यष्टिदर्शन शक्ति का स्वरूप है; अतएव जीव के ज्ञान का पारम्पर्य अवश्यम्भावी है। एक के पश्चात् एक दूसरे (इस प्रकार ब्रह्म में स्थित वस्तुसमूह) का दर्शन जीव करता रहता है। एक के दर्शन के समय दूसरा अदृष्ट रहता है, यह भी अवश्यम्भावी है; ब्रह्मस्थित दृश्यसमूह मानों कालशक्ति-रूप चक्र के द्वारा सदैव भ्राम्यमाण होकर, क्रमिक परम्परा भाव से, जीव शक्ति के दर्शन का विषयीभूत होता रहता है; इस विषय को दृढ़रूप से धारण करना चाहिये।

यह सदैव देखा जाता है कि, किसी वस्तु की चिन्ता में सुख का बोध होने से, उस वस्तु के प्रति अतिशय आसक्ति उपजात होती है; इससे उस वस्तु का ध्यान अति दृढ़रूप से अन्तःकरण में प्रविष्ट होता है; और जीव अन्त में सम्यक् आत्मविस्मृत होकर तन्मय हो जाता है; तब उसके निज-स्वरूप का स्फुरण नहीं रहता है। अधिकन्तु ध्येय वस्तु के स्वरूप का जो अंश जीव को प्रिय है, उसी अंश के प्रति मन के विशेष

भाव से आकृष्ट होने के कारण, उस वस्तु के अपर अंशसमूह के प्रति उदासीन होता है और तद्विषयक ज्ञान भी विलुप्त हो जाता है। इसका दृष्टान्त देखो:—स्त्री-देह की सुन्दरता तथा कमनीयता पुरुष में विशेष प्रीति उत्पादन करती हैं; किन्तु वह स्त्री-देह मल, मूत्र, स्वेद, रक्त इत्यादि दुर्गन्धमय और अपवित्र वस्तुओं से परिपूर्ण है। किन्तु स्त्री-देह के लावण्य तथा सुन्दरता के प्रति पुरुष का मन ऐसे दृढ़ रूप से आकृष्ट होता है कि उस स्त्री-देह के अपवित्र, मल, मूत्रादि का ज्ञान कार्य-काल में सम्यक् तिरोभूत हो जाता है; और अपवित्र-वस्तु-पूर्ण होने पर भी, उस स्त्री का सम्यक् देह ही उस पुरुष के लिये अति प्रिय वस्तु होता है। इसी प्रकार ब्रह्म के आनन्दांश के प्रति स्वभावतः अतिशय आसक्तियुक्त होने के कारण, जीव को सर्वथा यह विस्मृत हो जाता है कि, यह आनन्द चिन्मय सद्रूप वस्तु है; भोग्य-आनन्दांश मात्र के ध्यान से उस जीव का अपनी चिन्मयता का ज्ञान भी विलुप्त हो जाता है। इसी से भोग्य वस्तु का अचेतनत्व-ज्ञान उपजात होता है, उस वस्तु को जीव केवल भोग्यरूप से बोध करता है, और उसी में आत्मबुद्धि भी स्थापित होती है। इस प्रकार से भोग्यवस्तु के स्वरूपज्ञान के आवृत होने के कारण, जिस भोग्यांश की उपलब्धि होती है, वह एक अलक्षित वस्तु के स्वरूपभुक्त है, इतना ही ज्ञान अवशिष्ट रहता है; अतएव वह उसी अलक्षित वस्तु का गुण है, इस प्रकार का बोध उपजात होता है। यही बद्धावस्था है। इस अवस्था में जीव को आत्म-

स्वरूप भी विस्मृत हो जाता है, यह पहिले ही कह चुका हूँ; स्वयं भोक्ता है, केवल यही ज्ञान निज सम्बन्ध में उसे रहता है; और भोग्य पदार्थ केवल भोग्य है, यह ज्ञान प्रतिष्ठित होता है, इसका सचेतन सद्रूपत्व लक्षित नहीं होता; केवल यह ज्ञान अवशिष्ट रहता है कि, एक अलक्ष्य वस्तु इस भोग्य पदार्थ के आश्रयरूप से वर्तमान है। परन्तु जीव के देह परित्याग करने पर जैसे उसका अतिप्रिय देह भी पुनः तद्रूप प्रीति सम्पादन नहीं कर सकता है, (चैतन्य संयोग से ही देह का प्रियत्व होता है, उसके अभाव में नहीं,) तद्रूप भोग्यवस्तु की चैतन्यमयता विषयक बुद्धि के विलोप होने से उसकी आनन्द-मयता का अनुभव भी क्षीण हो जाता है; तब वह अचेतन भाव-प्राप्त भोग्य वस्तु भी पुनः तद्रूप आनन्ददान करने में समर्थ नहीं होती है। अतएव जिस आनन्द का ज्ञान विलुप्त हुआ उसकी प्राप्ति की आशा में जीव संसारान्वेषण करने में प्रवृत्त होता है। परन्तु उस आनन्द-लाभ की आशा में जीव जिस रूप को ग्रहण करता है वह उसको पूर्णानन्दजनक नहीं है, यह देखकर स्वभावतः उसी समय उसको परित्याग कर रूपान्तर का दर्शन करने में प्रवृत्त होता है; उसको भी पूर्णानन्ददायक न पाकर वह अपररूप के प्रति धावित होता है; इस प्रकार काल-शक्ति के अधीन होकर जीव सदैव भ्राम्यमाण होता रहता है।

जीव की बद्धावस्था तथा मुक्तावस्था दोनों ही ब्रह्म के व्यष्टि दर्शन के अन्तर्गत हैं। जगत् के प्रत्येक रूप का ब्रह्म की सत्ता

में नित्य अवस्थित रहना अब तो तुमने अवश्य समझ लिया होगा। जीवरूप में ब्रह्म इन समस्त रूपों का पृथक् पृथक् भाव से दर्शन करता है। इसी का नाम जगत् का प्रकाश है। यह दर्शन भी द्विविध है:—एक उस विशेषरूप मात्र का दर्शन, और द्वितीय उन विशेष विशेष रूपों का ब्रह्माङ्गीभूत रूप से भी दर्शन (उन गुणमय रूपों के आश्रयीभूत चिन्मय ब्रह्म का भी दर्शन)। अपार समुद्र में अपेक्षाकृत क्षुद्र, तदपेक्षा बृहत्, बृहत्तर बरफ़ खण्डसमूह भासमान रहता है। कल्पना करो कि, उन खण्डों में जीव-शक्ति वर्तमान है; वास्तव में समस्त वस्तुएँ निपट जड़ नहीं हैं, चित् और जड़मिश्रित हैं, अतएव ऐसी कल्पना करने में कोई दोष नहीं है, बरफ़ में भी दृक्-शक्ति अन्तर्निहित है। बरफ़-रूप देह के आवरण में आवृत रहने से वह जीव बरफ़ को अतिक्रम कर आश्रयस्थानीय समुद्र जल को नहीं देख सकता। तुम्हारी दृष्टि-शक्ति उसकी दृष्टिशक्ति से अधिक व्यापक है। अतएव तुम देखते हो कि बरफ़ समुद्र-जल ही का अंश है और समुद्र-जल ही में प्रतिष्ठित है। यदि बरफ़स्थ जीव की दृष्टि-शक्ति ऐसी वृद्धि-प्राप्त हो (अर्थात् उसके दूर दर्शन की समस्त बाधायें इस प्रकार दूर हो जायें) कि, वह बरफ़ की सीमा को उल्लङ्घन कर अपने आश्रयीभूत समुद्र-जल को भी अपनी दृष्टि का विषयीभूत कर सके, तो वह भी तुम्हारे सदृश बरफ़ को और उसके अङ्गीभूत अंश-समूह को समुद्र के अङ्गीभूत रूप से देख सकेगा।

किन्तु उस अवस्था में भी उसके बरफ़-रूप-अङ्ग के वर्तमान रहने के कारण बरफ़-रूप-देहधारी रूप में उसका व्यवहारिक पार्थक्य रहेगा। परन्तु सूर्य्य नारायण के उत्ताप से उस बरफ़-खण्ड के ग्रीष्म-काल में द्रवीभूत हो जाने पर, वह बरफ़ अपार समुद्र जल के साथ एकताप्राप्त हो जाता है और तन्निष्ठ जीव का समुद्र से पृथक् रूप में स्थिति का ज्ञान सम्पूर्ण रूप से ध्वंस-प्राप्त होता है, तब समुद्र से उसकी किसी प्रकार की पार्थक्य बुद्धि अथवा व्यवहार वर्तमान नहीं रहते हैं; समुद्र-जल के स्थिर होने पर, वह भी जल-रूप से (रह कर) स्थिर रहता है, समुद्र के तरङ्गायित होने पर वह भी तरङ्गायित होता है।

ब्रह्म में स्थित विभिन्नरूपसमूह को समुद्रजलस्थ बरफ़-खण्डस्थानीय जानना। पूर्वोल्लिखित बरफ़ के दृष्टान्त-स्थल में बरफ़रूप-देहधारी जीव का केवल बरफ़ मात्र का जो ज्ञान है, वही बद्धजीव का ज्ञानस्थानीय है; और दृष्टि शक्ति के प्रसारित होने पर उस बरफ़ के समुद्र ही के अङ्गीभूत होने का जो ज्ञान है, वही जीवन्मुक्त पुरुष का ज्ञानस्थानीय है; और बरफ़ के द्रवीभूत होकर समुद्र के साथ एकीभूत होने पर जो ज्ञान है, वही विदेहमुक्त पुरुष का ज्ञानस्थानीय है। द्वितीय प्रकार के ज्ञान में बरफ़ का समुद्र के साथ एकीभूत होना जाना जाता है। प्रथम प्रकार के ज्ञान में बरफ़ का भिन्न रहना प्रतीत होता है। और तृतीयावस्था में बरफ़ावस्था निपट तिरोहित होती है। वैसे ही जागतिक प्रत्येक वस्तु-सम्बन्धीय

जो भेद-ज्ञान है, वही बद्धजीव का ज्ञान है, और प्रत्येक वस्तु के ब्रह्मस्थित होने का जो ज्ञान है, वही जीवन्मुक्त पुरुष का ज्ञान है। देहान्त के पश्चात् चिदानन्दमय सद्ब्रह्म रूप का जो सर्वत्र, सर्वदा स्फुरण है, वही विदेहमुक्त पुरुष का ज्ञान है। केवल वस्तु-विषयक ज्ञान जीव को जिस अवस्था में होता है, उसको बद्धावस्था कहते हैं। इस ज्ञान ही का नाम अविद्या है, कारण, इसमें गुणात्मक प्रत्येक वस्तु के अन्तरालय में आश्रयरूप से जो पूर्ण चिन्मय सद्ब्रह्म है, वह दृष्टिगोचर नहीं होता। जिस अवस्था में आश्रयीभूत ब्रह्म ही के अङ्गीभूत रूप से प्रत्येक जागतिक वस्तु का दर्शन होता है, उसी अवस्था का नाम जीवन्मुक्तावस्था है। व्यष्टि ज्ञान के अनन्त प्रकार के भेद हैं, अतएव स्वरूप-ज्ञान विवर्जित केवल गुणात्मक वस्तु मात्र के ज्ञान का भी ब्रह्म में रहना अवश्यम्भावी है। कारण, गुण भी उसका अंशविशेष है; इस अंश मात्र का ज्ञान भी एक प्रकार का विशेष ज्ञान है, यह उसकी चिच्छक्ति के अन्तर्भूत रह कर इसी चिच्छक्ति की पूर्णता सम्पादित करता है। जैसे एक पूर्ण वृक्ष के दर्शन के अन्तर्भूत रूप में उसके प्रत्येक क्षुद्र क्षुद्र पत्रादि अङ्ग के दर्शन का भी रहना अवश्यम्भावी है, सम्यक् वृक्षदर्शन के अन्तर्भूत रूप में पत्रादि अङ्गों का पृथक् दर्शन भी अवश्य है, इसको भी उसी भाँति जानना। इस गुणांशमात्र का ज्ञान ही बद्धावस्था का ज्ञान है। इसी को अविद्या कहते हैं। इसमें आश्रयस्थानीय, चिदानन्दरूपी, ब्रह्म अप्रकाशित रहता है। पूर्णानन्द का

दर्शनाभाव ही दुःख का मूल है। अतएव बद्धजीव का दुःख भी अवश्यम्भावी है; और दुःख क्यों है, इस प्रश्न के उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि, ब्रह्म का स्वरूप ही इस प्रकार का है। ये सब मिलकर उसकी पूर्णता सम्पादित करते हैं। ईश्वररूपी ब्रह्म में पूर्ण आनन्द नित्य विराजमान है। उसके अङ्गीभूत व्यष्टिदर्शनशक्तियुक्त मुक्तजीव में स्वीय और दृश्य पदार्थसमूह के आश्रयीभूत चित्स्वरूप का ज्ञानाभाव न रहने के कारण, मुक्त जीव समूह ईश्वर के साथ (अर्थात् अङ्गीभूत-भाव से—जीवन्मुक्तावस्था में मिश्रित भाव से, विदेहमुक्तावस्था में निरवच्छिन्न भाव से) आनन्दानुभव करते हैं। आश्रयीभूत चिद्रूप के ज्ञान के विषयीभूत न होने के कारण, ईश्वराङ्गीभूत होने पर भी, बद्धजीव गुणमय देह में आत्म-बुद्धि-युक्त होकर दुःखभागी हुआ करते हैं।

देह में जो आत्म-बुद्धि है, वह भी अमूलक नहीं है; कारण गुणमय देह भी ब्रह्म ही के स्वरूपान्तर्गत है; बद्धावस्था में अपना तथा उस गुणमय देह के आश्रयीभूत चिदात्मक ब्रह्म का स्वरूप प्रकाशित नहीं रहता है, केवल गुण ही दर्शन का विषयीभूत रहता है;—अतएव उस गुणात्मक देह ही में आत्म-बुद्धि उपजात होती है। जीवन्मुक्तावस्था में अपना तथा सर्व देह के आश्रयीभूत सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का ज्ञान होने के कारण, अपने देह का तथा समस्त दृश्यमान वस्तुओं का ब्रह्मरूप में दर्शन प्रकाशित होता है; उस अवस्था में भी दृश्य देहादि

में आत्मबुद्धि रहती है; परन्तु वह आत्मबुद्धि ब्रह्मात्मक बुद्धि, बद्धावस्था की भाँति गुणात्मक बुद्धि नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है कि, ब्रह्मज्ञान होने से समस्तभूतवर्ग की, पहिले अपने आत्मा में और अन्त में ब्रह्म में, स्थिति के दर्शन होते हैं ("येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" चतुर्थ अध्याय ३५ श्लोक)। श्रुति ने भी बहुस्थल में ऐसा ही कहा है।

अतएव दृश्यमान प्रत्येक देहधारी जीव में त्रिविधभाव एकत्र विद्यमान हैं:—प्रथम, दृश्यस्थानीय भोग्य देह, जो आनन्दमय सद्ब्रह्म में प्रकटित एक विशेष रूप है; इस विशेष रूप के आश्रयरूप से पूर्णानन्दमय सद्ब्रह्म नित्य वर्तमान है। द्वितीय, इस देह का विशेष द्रष्टा (अनुभवकर्ता) जीव है; वह जीव बद्धावस्था में इस अचेतनभावापन्न देह में ही आत्मभाव आरोपित कर इसी में आत्मबुद्धि-युक्त होता है; परन्तु उस देह का आश्रयीभूत जो अच्युतानन्द है, उसका दर्शन न होने के कारण, वह दुःखादि भोग करता रहता है। तृतीय, पूर्णज्ञ चिद्ब्रह्म ईश्वर है, जिसका अङ्गीभूत अंशमात्र वह जीव है; अंशी को छोड़ वह अंश अवस्थिति नहीं कर सकता (समष्टिदर्शनशक्ति के अन्तर्भूत व्यष्टिदर्शनशक्ति ही जीव है, यह पहिले ही कह चुका हूँ)। अतएव प्रत्येक जीवदेह में ईश्वररूपी ब्रह्म भी नित्य अनुप्रविष्ट है, वही जीव का दर्शन सदैव नियमित (निर्धारित) करता है, जीव सदैव ईश्वराधीन है। यह

त्रिविधभाव निम्न-लिखित तथा अपरापर श्रुतियों में प्रकाशित है, यथा:—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया—
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥६॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
ऽनीशया शोचति मुह्यमान:।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोक: ॥७॥

अर्थ:—दो सुन्दर पक्षी, परस्पर सख्य भाव से सर्वदा एकत्र मिलित होकर, एक ही वृक्ष का अवलम्बन कर, अवस्थिति करते हैं। उनमें एक (जीव) उस वृक्ष का फल खाकर उसका स्वाद भोग करता है; दूसरा (ईश्वर) इस फल को नहीं खाता, केवल उदासीनभाव से देखा करता है। उस एक ही वृक्ष पर रहने पर भी वह जीवरूपी पक्षी (फल के लोभ से) बन्धनदशा-प्राप्त होता है, और अपना उद्धार करने में असमर्थ होकर मोह प्राप्त तथा शोकयुक्त होता है, पश्चात् जब वह अपर ईश्वररूपी पक्षी का भजन कर उसको प्राप्त होता है, और उसकी महिमा (सर्वव्यापित्व) की उपलब्धि करता है, तो इस उपाय-द्वारा वह दु:ख से विमुक्त होता है।

महाभारतान्तर्गत उद्योगपर्व के सनत्सुजात प्रकरण के

प्रथम अध्याय में भगवान् सनत्कुमार से धृतराष्ट्र ने अन्य भाषा में तुम्हारे जिज्ञासित प्रश्न के अनुरूप प्रश्न किया था। यथा:—

"धृतराष्ट्र उवाच,

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण।
किं वास्य कार्यमथवा सुखञ्च तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत्॥"
४२ अ० १९ श्लोक॥

अर्थात् (हे भगवन्) यदि यह ब्रह्म ही एतत्समस्त रूप है—वही यदि क्रमशः स्थावरादि पर्य्यन्त रूप से प्रकाशित हुआ करता है (सचेदिदं सर्वमनुक्रमेण), तो (मैं पूछता हूँ कि,) कौन उस जन्मरहित पुराणपुरुष को इस प्रकाशन-कार्य में नियुक्त करता है? इसमें उसका क्या प्रयोजन सिद्ध होता है अथवा क्या सुख है, आप स्पष्टरूप से इसका सम्यक् वर्णन कीजिये, कारण आप सर्वज्ञ हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् सनत्कुमार ने कहा है, यथा:—

"सनत्सुजात उवाच।

दोषो महानत्र विभेदयोगे, ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथास्य नाधिक्यमपैति किञ्चिदनादियोगेन भवन्ति पुंसः॥२०॥

य एतद्वा भगवान् स नित्यो, विकारयोगेन करोति विश्वम्।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते, तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः॥२१॥"

अर्थः—"अत्र" अत्र विषये, त्वदीयप्रश्नोक्तविषय विचारे इदं दृश्यते। "विभेदयोगे" (विशेषेण भेदो ययोस्तौ विभेदौ, विभिन्नौ, तयोर्योगे विभेदयोगे, परमात्मेतरः कोऽपि तेन सह युक्तः सन् तज्जगत्प्रकटनव्यापारे नियोजयति इति कथने। "महान् दोषो" भवति। अत्र सिद्धान्ते सर्वविधश्रुति-व्याकोपः स्यात्। अधिकन्तु ब्रह्मणः प्रेरयिता कोऽप्यस्ति, तस्यापि प्रेरयिता अन्योऽस्ति, तथा तस्याप्यन्यः, इत्यनवस्था-दोषोऽपि घटते।) (वस्तुतः) "अनादियोगेन" न नास्ति आदिर्यस्य सः अनादिः; अनादिश्चासौ योगश्चेति अनादियोगः, तेन अनादियोगेन। (प्रश्नोक्तानाम् इदं शब्दवाच्यानां दृश्य-स्थानीयानां पदार्थानां ब्रह्मणा सह यो योगस्तस्य अनादित्वात्।) "भवन्ति नित्याः" (तेषामपि नित्यत्वं सिद्धं भवति)। ननु दृश्यस्थानीयपदार्थानां नित्यत्वे, ब्रह्मणो भूमत्वस्य पूर्णत्वस्य प्रति-षेधो भवति अतएवाह तथेति)। "तथा" (तेन हेतुना, दृश्य-पदार्थानां नित्यत्वहेतुना) "अस्य" (ब्रह्मणः) "आधिक्यम्" (अद्वितीयत्वं भूमत्वं) "न किञ्चिदपैति" (अपगतं भवति)। (कथम् इत्याशङ्कायामाह) "अनादियोगेन" (इति—, तेषां ब्रह्मणा सह योगस्य, तेषां ब्रह्मस्वरूपान्तर्भावस्य अनादित्वात्, न ते ब्रह्मणः पृथग्भूताः, अपि तु तदङ्गीभूता एव)। "ते पुंसः" (पूर्णस्वभावात् परमात्मनः सकाशादेव प्रकटिता) "भवन्ती" त्यर्थः ॥२०॥

(ननु दृश्यस्थानीयपदार्थाः ब्रह्मणो भिन्नत्वेन एव परि-

दृश्यन्ते कथं तर्हि तेषामभिन्नत्वं विज्ञातव्यमिति तत्राह) "यः" "एतत्" (परिदृश्यमानजगद्रूपेण भाति) "स भगवान्" (परमात्मैव), "स नित्यः" (इति विजानीयाः) "विकारयोगेन" इति, (स्वस्वरूपात् अन्यथाभाव प्राप्तिर्विकारः यथा सुवर्णखण्डस्य कुण्डलाकारप्राप्तिः तद्विकारयोगेन) "विश्वं करोति" (प्रकाशयति विश्वस्तस्यैव विकारस्थानीयः न तु भिन्नः)। ननु ब्रह्मणोऽपि विकारित्वे कथं तस्य नित्यता इत्यत्राह "तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते" इति। (विकारोऽपि परमात्मनः शक्तिविशेषः तस्य परमात्मन आत्मभूता न पृथग्भूता शक्तिरिति मन्यते स्म। स्वीयरूपेण अविकृतो भूत्वा अनन्तशक्तिसम्पन्नस्य परमात्मनः ईश्वरस्य नानारूपेण प्रकटीकरणविषयकं सामर्थ्यमस्तीति भावः।) "तथार्थयोगे" (विकारस्थानीये जगति शक्त्यर्थयोजनायां) "वेदाः" (श्रुतयः एव प्रमाणं) "भवन्ती" त्यर्थः। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च", "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं" (जगतः कारणम्), "तदैक्षत अहं बहुस्यां प्रजायेयेति", "सच्चत्यच्चाभवत्", "ब्रह्मैवेदं विश्वम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", इत्यादिश्रुतयस्तत्र प्रमाणं भवन्ति। पूर्वदृष्टपदार्थानां रूपाणि यथा तव चित्ते लीनानि सन्ति, चित्तेन सह अभिन्नतया तिष्ठन्ति, पुनः स्मृतिकाले तस्मिन्नेव चित्ते स्थितानि सन्त्यपि भिन्नतया परिज्ञायन्ते। एतद्व्यापारेण तव चित्तस्य किञ्चिदपि न्यूनाधिक्यं न भवति; तथा दृश्यपदार्था अपि ब्रह्मणि अभिन्नतया स्थिता अपि तदङ्गीभूतजीवशक्त्या भिन्नत्वेन

परिदृश्यन्ते। एतेन ब्रह्मस्वरूपस्य न किञ्चिदपि न्यूनाधिक्यं भवति, इति सिद्धम्।

अर्थ:—भगवान् सनत्कुमार ने कहा कि, तुम्हारे जिज्ञासित विषय पर विचार करने से देखा जाता है कि, ब्रह्म के साथ संगत होकर ब्रह्म से विभिन्न अपर कोई ब्रह्म को सृष्टि प्रकाश-कार्य में नियोजित करता है, ऐसा कहने से महद्दोष घटित होता है। (प्रथमत: यह समस्त श्रुति वाक्यों का विरोधी है, द्वितीयत: उस नियोगकर्त्ता का नियोगकर्त्ता और कोई है, पुन: उसका भी नियोगकर्त्ता अपर कोई है, इत्यादि अनवस्था दोष घटता रहता है। इस भाँति के महद्दोष इसमें दृष्ट होते हैं।) वास्तव में अनादिकाल से विश्व ब्रह्म में युक्त है, अतएव इसको भी नित्य जानना (नूतन कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है, ब्रह्म ही में नित्य वर्तमान रह कर केवल कभी प्रकाशित कभी अप्रकाशित होता है)। ब्रह्म के साथ विश्व के इस भाँति नित्ययुक्त रहने के कारण, ब्रह्म के सर्वव्यापित्व (अद्वैतत्व) में किसी प्रकार की खर्वता नहीं होती। (कारण, ब्रह्म स्वरूपत: पूर्ण है, उससे अभिन्नरूप से विश्व उसकी सत्ता में वर्तमान रहता है)। अनादि काल से उसकी सत्ता में स्थित रहने के कारण उसी पूर्णस्वरूप (ब्रह्म) ही से जगद्रूप में (विश्व) प्रकाशित होता है ॥२०॥

यह परिदृश्यमान जगत् उस पूर्ण, नित्य, वस्तु (भगवान्) ही के स्वरूपान्तर्गत है। इसको भी वही भगवान् कह कर जानना। वे ही विकारयोग से इस विश्व को प्रकटित करते हैं। भगवान्

के नित्य होने पर भी अपने को विश्वरूप से प्रकाशित करने की शक्ति उनमें है। वह शक्ति ही उक्त विकार शब्दवाच्य है। इस प्रकार के अर्थयोजना-विषय में समस्त वेदवाक्य ही प्रमाण हैं।

जो लोग जगत् के मिथ्यात्ववादी हैं, उनका मत इन दोनों श्लोकों के सरल सुस्पष्ट अर्थ का सम्पूर्णरूप से विरोधी है,—कारण, इन श्लोकों में भगवान् सनत्कुमार ने सुस्पष्ट रूप से कहा है कि, "य एतद्वा भगवान् स नित्यः", अनादियोगेन भवन्ति नित्याः", इत्यादि। अतएव जगत् के मिथ्यात्ववादी व्याख्याकार-गण इन सब श्लोकों के स्पष्टार्थ से अपने मत को सुरक्षित रखने के अभिप्राय से, इन सब श्लोकों की व्याख्या करने में नाना प्रकार की कष्टकल्पनाओं के उत्थापित करने में बाध्य हुये हैं। यथा पूर्वोक्त २० श संख्यक श्लोक की व्याख्या में उस श्लोक के द्वितीय चरण में उल्लिखित "अनादियोगेन" पद की व्याख्या करने में नीलकण्ठ ने कहा है, "न अत्तुं शील-मस्येति अनादिर्भोग्यवर्गः स्थूल सूक्ष्म देहद्वयात्मकानि क्षेत्राणि, तस्य योगेन सम्बन्धेन पुंसः परस्मात् सकाशात् नित्याः जीवाः घटाकाश जलचन्द्रादि न्यायेन भवन्ति।" वास्तव में इस व्याख्या में अनादि शब्द की किस प्रकार अतिशय कष्ट कल्पना की अव-तारणा की गई है वह इस व्याख्या के पठन से ही बोधगम्य होती है। "अत्तुम्" (खाना) "न शीलमस्येति" (इसका धर्म्म नहीं है) इस अर्थ में "अनादि" शब्द का प्रयोग हुआ है, यही नील-कण्ठ का मत है। इस प्रकार की कष्टकल्पना कर स्पष्ट बोध-

गम्य "अनादि" शब्द की व्याख्या करने का कोई कारण दृष्ट नहीं होता । जो हो "अनादि" शब्द की इस प्रकार की व्युत्पत्ति होने पर भी उस व्युत्पत्ति से नीलकण्ठ ने जो इसका अर्थ "भोग्यवर्ग" किया है, उसमें भी अतिशय अधिक परिमाण से कष्ट कल्पना दृष्ट होती है । भोजन करना जिसका धर्म्म नहीं है, ऐसा कहने ही से क्या यह समझा जाता है कि वह पदार्थ स्वयं अपर का खाद्य अथवा भोग्य होगा ? अनेक वस्तुयें तो जगत् में ऐसी देखी जाती हैं, जो अन्य कुछ नहीं खातीं, और उनको भी कोई दूसरा नहीं खाता । जो हो "एक वस्तु खाती नहीं" केवल इतना ही कहने से इसका अर्थ ऐसा समझना कठिन है कि, "इस वस्तु को अपर कोई खाता है", यही उसका स्वभाव है । नीलकण्ठ ने पुनः लिखा है "पुंसः सकाशात् नित्यः जीवाः भवन्ति जलचन्द्रादिन्यायेन", जैसे जल के कम्पित होने से जलस्थ चन्द्र-प्रतिबिम्ब बहुरूप से प्रकाशित होता है, वैसे ही परमात्मा से नित्य जीव-समूह प्रकाशित होता है । इस स्थल में प्रथम वक्तव्य यह है कि धृतराष्ट्र का प्रश्न जीव-सम्बन्धी नहीं है, धृतराष्ट्र ने पूर्वोक्त १९श श्लोक में प्रश्न किया है "सचेदिदं सर्वमनुक्रमेण" (अर्थात् यदि महदादि स्थावर पर्यन्त क्रम से दृश्यमान समस्त ही ब्रह्म हों । नीलकण्ठ ने भी इस चरण की व्याख्या इस भाँति की है, यथा "ननु पर एव...इदं सर्व चेतनाचेतनं विश्वं...क्रमेण भवतीति चेत्"); तो मैं पूछता हूँ, "कोऽसौ

नियुङ्क्ते तमजं पुराणम्" (अर्थात् कौन उस जन्मरहित पुराणपुरुष को इस विश्वरूप में प्रकाशित होने के कार्य में नियुक्त करता है, इससे उसका क्या सुख या प्रयोजन साधित होता है) ? इस प्रश्न में जोव-सम्बन्धी किसी प्रकार की उक्ति नहीं है, अतएव नीलकण्ठ ने जो तत्परवर्ती उत्तरस्थानीय २० श श्लोक के द्वितीय चरणस्थित "भवन्ति" पद के कर्तृ-स्थान में "जीवाः" पद को उह्य रखकर श्लोक की व्याख्या की है, वह किसी प्रकार से संगत नहीं प्रतीत होता है। जो हो, कम्पमान जलस्थ चन्द्र-प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त-द्वारा जीव के बहुत्व की व्याख्या स्वीकार करने पर भी, उसके द्वारा जीव के नित्यत्व की व्याख्या किसी प्रकार से नहीं हो सकती है। कम्प-मान जलस्थानीय अनन्तरूपो जगत् का विनाश-शील और मिथ्या होना ही नीलकण्ठादि का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के सत्य होने पर, कम्पमान जलस्थ चन्द्र-प्रतिबिम्ब-स्थानीय जीवसमूह को भी चन्द्र-प्रतिबिम्ब की भाँति अनित्य मानना पड़ता है। यह समस्त श्रुति, स्मृति प्रभृति शास्त्रों के विरुद्ध है। और स्थानीय जल भी जब मिथ्या है, तो प्रतिबिम्ब किस पर पड़ेगा ? श्लोकद्वय के अपरांश की नीलकण्ठ-कृत-व्याख्या को उद्धृत कर उसकी समालोचना का कोई प्रयोजन नहीं है। मैंने अब तक जो कहा है, उसके भली भाँति तुम्हारे बोधगम्य होने पर तुम लोग स्वयं ही उनके वाक्यसमूह का असामञ्जस्य और उसकी असारता समझ सकोगे।

श्रीमच्छङ्कराचार्य ने भी इन श्लोकों की व्याख्या की है। वे भी जगत् के मिथ्यात्ववादी हैं, अतएव उन्होंने भी जीव सम्बन्ध में भगवान् सनत्कुमार की उक्ति की व्याख्या की है; और २० श श्लोक के पूर्वोक्त "अनादियोगेन भवन्ति नित्याः" चरण की व्याख्या करते समय कहा है, "अनादिरविद्या माया। तथाचोक्तं 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि' तद्योगेन मायायोगेन भवन्ति जीवादयो नित्याः"। शङ्कराचार्य कहते हैं, "अनादि शब्द का अर्थ अविद्या, माया है, इसका प्रमाण यह है कि, भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है 'हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि अर्थात् आदिशून्य जन्मरहित कह कर जानना' उसी मायायोग में जीवादि नित्य हैं"। इस स्थल में वक्तव्य यह है कि, प्रकृति और पुरुष दोनों को गीता में भगवान् ने "अनादि" कहा है यह सत्य है, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा है कि, "अनादि" शब्द का अर्थ ही प्रकृति अथवा पुरुष है; "यह स्तम्भ शुक्ल है" यह कहने से जैसे यह नहीं समझा जाता है कि शुक्ल शब्द का अर्थ ही यह स्तम्भ है, वैसे ही "प्रकृति और पुरुष अनादि हैं" इस उक्ति-द्वारा यह नहीं समझा जाता है कि "अनादि" शब्द का अर्थ प्रकृति अथवा पुरुष अथवा उभय है। अतएव श्लोक में "अनादि" शब्द का प्रयोग देख कर भगवद्गीतान्तर्गत उक्त श्लोक का प्रमाण देकर आचार्य शङ्कर ने जो "अनादि" शब्द के अर्थ ही को "प्रकृति," "अविद्या", "माया" कह कर व्याख्या की है,

उसमें अतिशय कष्ट कल्पना ही दृष्ट होती है। और जीव-सम्बन्ध में भी इन्होंने जो भगवान् सनत्सुजात के वाक्य की व्याख्या की है, वह भी संगत नहीं हो सकती, यह मैंने नीलकण्ठ की व्याख्या की समालोचना करते समय पहिले ही प्रदर्शित किया है। इन दोनों श्लोकों के अवशिष्टांश की व्याख्या शङ्करभाष्य में जैसी है, उसकी भी विस्तारित समालोचना करना निष्प्रयोजन है; आवश्यकता पड़ने पर तुम्हीं लोग कर लेना। परन्तु उक्त समस्त व्याख्या के पढ़ने पर तुम देखोगे कि, २१ श श्लोक की व्याख्या में श्लोक के प्रथम चरण के शब्दार्थ की व्याख्या अन्य प्रकार से करने में वे भी समर्थ नहीं हुये हैं। यथा श्लोकोक्त "ये एतद्वा भगवान् स नित्यः", इस प्रथम चरण की व्याख्या करने में नीलकण्ठ ने कहा, है "एतत् परिदृश्यमानं जगत् यत् जगदिव भाति स नित्योऽविकारी भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नः परमात्मैव"। किन्तु "एतत्" शब्द का स्वाभाविक अर्थ दृश्यमान जगत् न कह कर शङ्कराचार्य ने कहा है "एतद्वा परमार्थभूतो भगवान् ऐश्वर्यादि-समन्वितः परमेश्वरो नित्यः, स विकारयोगेन ईक्षणादिपूर्वकं विश्वं करोति"। इस स्थल में लक्ष्य करना कि "एतत्" शब्द जो स्वभावतः सर्वत्र "यह" अर्थात् दृश्यमान जगत् के अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह आचार्य शङ्कर के अभिमत में दृश्यातीत परमार्थभूत ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "एतत्" शब्द के इस भाँति के प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होते। और श्लोकोक्त

विकार शब्द का अर्थ उनके मत में ब्रह्म की ईक्षणशक्ति है। ऐसी व्याख्या सुव्याख्या कह कर किसी प्रकार ग्रहण करने के योग्य नहीं हो सकती।

वास्तव में जगत् के ब्रह्माभिन्नत्व-ब्रह्मरूपत्व की घोषणा श्रुति ने अनेक स्थलों पर स्पष्टरूप से की है। यथा—"इदं सर्वं यदयमात्मा" "ब्रह्मैवेदं विश्वं", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", इत्यादि। ब्रह्म की जो अनेक रूपों में प्रकाशित होने की शक्ति है, उसके सम्बन्ध में मैंने तुमको पहिले ही श्रुतियों के कई एक प्रमाण दिये हैं। और भी बहुत सी श्रुतियाँ भी इस भाँति की हैं, यथा:—"देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्", "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत" इत्यादि। जिस शक्ति द्वारा जगत् प्रकाशित होता है, वह, अनेक प्रकार की होने पर भी, वास्तव में ईक्षणशक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। "तदैक्षत बहुस्याम्" इत्यादि पूर्व-व्याख्यात छान्दोग्य श्रुति तथा अपरापर श्रुतियों के द्वारा उपरोक्त विषय प्रमाणित होता है, इसका मैंने पहिले ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

क्या अब भी इस विषय में तुम्हारी कुछ जिज्ञासा है?

विषय—शत्रु के प्रति तथा पापिष्ठ के प्रति किस प्रकार से ब्रह्मबुद्धि की स्थापना की जा सकती है।

शिष्य:—जगत् ब्रह्ममय है, यह तत्वविचार-द्वारा मैंने एक प्रकार से समझा, किन्तु मेरी समझ में नहीं आता कि, सर्व स्थलों में कार्यत: इस बुद्धि की किस भाँति रक्षा हो सकती

है। मेरे प्रति श्रीजी की कुछ कृपा देख कर एक मनुष्य से सहा नहीं जाता; वह ईर्ष्यावश मेरी नाना प्रकार की मिथ्या निन्दा और अपवाद की सदैव, सर्वत्र घोषणा करता है। जिससे मैं अपदस्थ होऊँ, सदैव ऐसी चेष्टा करता रहता है। इस भाँति के मनुष्य के प्रति मैं किस प्रकार ब्रह्म-बुद्धि का स्थापन कर सकता हूँ ?

गुरुः—शास्त्रों ने कहा है कि, निन्दक व्यक्ति जिसकी निन्दा करता है उसका पाप क्षय हो जाता है, और उसके समस्त पाप निन्दक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। इस बात को सम्पूर्ण सत्य जानो। देखो, निन्दा करने के साथ ही साथ निन्दक के चित्त में विद्वेष बुद्धि प्रबल होकर उसके चित्त को कलुषित करती है, उसका चित्त पापयुक्त होता है। साक्षात् सम्बन्ध में शास्त्र वाक्य का यही यथेष्ट प्रमाण है। लोगों के मुख द्वारा निन्दा के घोषित होने पर, निन्दित व्यक्ति का पाप साथ ही साथ क्षय-प्राप्त होता है। यशोवृद्धि से जिस प्रकार सुख-भोग-द्वारा पुण्य का क्षय होता है, उसी प्रकार अप-वाद रूप दुःख-भोग-द्वारा पाप का क्षय होना भी अवश्यम्भावी है। अतएव निन्दक-व्यक्ति की निन्दा-द्वारा निन्दित व्यक्ति का पापक्षय रूप महदुपकार साधित होता है। संसार में तुम्हारा ऐसा कौन बन्धु है, जो अकातर भाव से अपने शिर पर तुम्हारा पाप ग्रहण कर सकता है। स्त्री, पुत्र, पिता, माता, भ्राता, बन्धु, सभी न्यूनाधिक परिमाण में सम्पत्ति के

साथी हैं। तुम्हारे पापों का भार अयाचित-भाव से लेना तो दूर रहा, तुम्हारे प्रार्थी होने पर भी कोई अपने शिर पर तुम्हारे पापों का भार लेने में अग्रसर नहीं हो सकता। परन्तु निन्दक-व्यक्ति अयाचित-भाव से स्वतः प्रवृत्त होकर नित्य तुम्हारे पापों का भार अपने शिर पर धारण करता रहता है। अतएव विचार करने पर ज्ञात होगा कि, तुम्हारा निन्दक तुम्हारा जिस प्रकार उपकार-साधन करता है, त्रिभुवन में दूसरा कोई उस प्रकार तुम्हारा उपकार-साधन नहीं करता। मैंने सुना है कि, महात्मा कबीरजी के सर्वव्यापी यश और समृद्धि-दर्शन से कोई साधु उनके प्रति ईर्ष्यावश सर्वत्र ही उनकी निन्दा करने में प्रवृत्त हुआ था; कबीरजी की निन्दा करना ही एक प्रकार उसके नित्य कर्म्म में गण्य रहा। कुछ दिन पश्चात् उसकी मृत्यु होने पर, महात्मा कबीरजी उस संवाद को पाकर, अत्यन्त विलाप करने लगे। उनको इस भाँति विलाप करते देख, एक दूसरे मनुष्य ने आश्चर्यान्वित होकर कहा, "यह व्यक्ति अतिशय पापिष्ट था; आपकी मिथ्या निन्दा की घोषणा करना ही इसका नित्य-व्रत था; इस व्यक्ति की मृत्यु पर आप क्यों इतना विलाप करते हैं, यह मैं नहीं समझ सकता। मुझे नहीं प्रतीत होता है कि, आपका यह विलाप सरल-भाव का कार्य है। अतएव अपने इस विलाप के कारण मुझे बताइये।" इस पर महात्मा कबीरजी ने और भी कातर-भाव से विलाप करते हुये कहा, "अरे, इस व्यक्ति के समान

मेरा उपकारी जगत् में और कोई नहीं था। वह रजक की भाँति मेरी समस्त पातकराशि को धोकर अपने अङ्ग में अयाचित भाव से लगा लेता था। मेरा ऐसा उपकार त्रिभुवन में अब और कौन करेगा? यह क्या मेरे लिये सामान्य विलाप का विषय है?" अतएव जानना कि निन्दक के समान उपकारी और कोई नहीं है। यदि यह सत्य हो तो, अपने निन्दक व्यक्ति के प्रति विद्वेष-बुद्धि रखना क्या तुम्हारे लिये अत्यन्त गर्हित कर्म्म नहीं है? तुम कह सकते हो कि, उसके कार्य द्वारा तुम्हारा अनिष्ट साधित हो सकता है, तो किस प्रकार से तुम अपने अनिष्टकारी के प्रति सद्भाव स्थापित कर सकते हो? परन्तु सर्वविध शास्त्रों ने तथा सर्व युगों में आविर्भूत महात्मा ऋषियों ने एकस्वर से कहा है कि, वास्तव में कोई किसी का अनिष्ट साधन नहीं कर सकता। इस जन्म में तुमको जो कुछ लाभ, क्षति, सुख, दुःखादि, का भोग करना पड़ता है, वे सभी तुम्हारे निज पूर्व पूर्व जन्म-कृत कर्म के फल हैं। नारद पञ्चरात्र में यह सत्य (सिद्धान्त) अत्युत्तम रूप से वर्णित है। यथा:—

"प्राक्तनात् सुखदुःखञ्च, रोगः, शोको, भयं, पितः।
सुमृत्युरपमृत्युर्वा चिरायुरल्पजीवनम्॥
यत्र काले च यन्मृत्युर्भवनं शुभकर्म्म च।
न्यूनाधिकं क्षणं नास्ति निषेकः केन वार्य्यते॥
यस्य हस्ते च यन्मृत्युर्विधात्रा लिखितः पुरा।
न च तं खण्डितुं शक्तः स्वयं विष्णुश्च शङ्करः॥"

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास तथा महाजनों के वाक्यों से सर्वत्र यह सत्य प्रचारित हुआ है। दृष्टतः जो व्यक्ति तुम्हारा अनिष्टकारी प्रतीत होता है, उसको केवल निमित्तमात्र बना कर तुम्हारे पूर्वकृत कर्म्म इस जन्म में तुमको लाभ, क्षति, सुख, दुःखादि रूप फल देते हैं। अतएव उस निमित्तमात्रस्थानीय व्यक्ति को अपना अनिष्टकारी कह कर उस पर विद्वेष भावापन्न होना क्या सम्पूर्ण रूप से मूर्खता नहीं है ? किसी व्यक्ति ने अन्तरालय में रह कर दण्ड-द्वारा तुम पर आघात किया; उस आघातकारी को न देखने के कारण, उस दण्ड ही को आघात-कारी समझकर, यदि उस दण्ड ही के प्रति विद्वेष भावापन्न हो तो, क्या यह सम्पूर्ण मूर्खता का परिचय नहीं है ? अतएव विचार करने पर स्पष्टरूप से समझोगे कि, वास्तव में तुम्हारा अनिष्टकारी अन्य कोई नहीं है। यदि किसी को अपना अनिष्ट-कारी समझो, तो यह मानना पड़ेगा कि, तुम्हारे पूर्वकृत कर्म्म ही उस अनिष्ट के मूल हैं। तुम स्वयं ही अपने अनिष्टकारी हो, दूसरा कोई नहीं।

द्वैत-बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति इस प्रकार के विचार-द्वारा दृष्टतः अनिष्टकारी व्यक्ति के प्रति विद्वेष-भाव विरहित होकर शान्ति अवलम्बन करेगा। कर्म्म-गति के अनुसार दुःख उपजात होने का समय उपस्थित होने पर परम मित्र भी शत्रु-भावापन्न होते हैं; और सुख-लाभ करने का समय उपस्थित होने पर परम शत्रु भी मित्र-भावापन्न होते हैं; यह सर्वदा सर्वत्र ही देखा जाता है।

यह देख कर बुद्धिमान् मनुष्य को शत्रु और मित्र इन दोनों के प्रति समभावापन्न होकर उनके प्रति अपने कर्तव्य कर्म्मों का शास्त्र-विहित रूप से प्रतिपालन करना ही अच्छा है।

द्वैतभावापन्न व्यक्ति के सम्बन्ध में मेरा यह उपदेश है। परन्तु जिन्होंने श्रुति-शास्त्रों के उपदेशों को हृदयङ्गम कर एक परमेश्वर ही को जागतिक समस्त व्यापारों का नियन्ता जाना है, वे जानते हैं कि, पाप-पुण्य सभी वास्तव में ईश्वराधीन हैं, जीव में स्वतंत्र रूप से कर्म्म-सामर्थ्य कुछ भी नहीं है।

कारण,

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥"

गीता, १८ श अ० ६१ श्लोक।

अर्थः—(भगवान् कहते हैं) हे अर्जुन, समस्त प्राणिवर्ग के हृदय में ईश्वर अवस्थित रह कर जीवसमूह को यन्त्रारूढ़ पुत्तलिका की भाँति निज माया-शक्ति द्वारा सञ्चालित (भ्राम्यमाण) करता है।

अतएव

"सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥"

गीता, ६ अ० ६ श्लोक।

एवञ्च

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥"

गीता, ५ अ० १८ श्लोक ।

(अर्थात् सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, अबन्धु, साधु और पापी इन सभों के प्रति समबुद्धि स्थापित करना ही प्रशंसनीय है । विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण में, तथा गो, हस्ती, कुक्कुर, और चाण्डाल में ज्ञानी लोग समदर्शी होते हैं ।)

इन सब गीता वाक्यार्थों की तथा अपरापर शास्त्रों के उक्त प्रकार वाक्यार्थों की सत्यता का अनुभव कर ज्ञानी पुरुष सर्वत्र समदर्शी होते हैं, और उनकी आभ्यन्तरिक शान्ति की भी कभी च्युति नहीं होती ।

परन्तु जिन्होंने गुरूपदिष्ट वेदान्त वाक्यों के गुह्यतम सार को जान कर और भी उच्चतर ज्ञान प्राप्त किया है, वे जानते हैं कि भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल में प्रकाशित जीव-समूह की सर्वविध अवस्था ब्रह्मस्वरूप में नित्य वर्तमान है; केवल उसकी ईक्षणशक्ति के प्रभाव-द्वारा विभिन्न रूप से प्रकाशित होती है । मैंने पहिले ही तुम्हारे समक्ष इसका विशेषरूप से वर्णन किया है । अतएव इस प्रकार के मनुष्य सांसारिक सुख-दुःखादि सभी के परे हैं । उनकी दृष्टि में

समस्त जगत् ब्रह्ममय है। अतएव निन्दा स्तुति दोनों ही को वे तो तुल्य समझेंगे।

क्यों, अब तो तुम्हारा सन्देह विगत हुआ?

विषय—जीव को ईश्वर पाप में क्यों नियुक्त करता है?

शिष्यः—हाँ, जो आपने कहा वह तो मैंने समझा। किन्तु एक बात और भी परिष्कृत रूप से समझने की अभिलाषा है। आपके पूर्वोल्लिखित गीतान्तर्गत १८ श अध्याय के श्लोक में वर्णित है कि, ईश्वर समस्त जीवों के हृदय में प्रतिष्ठित रह कर पुत्तलिका की भाँति सभी को भ्राम्यमाण करता रहता है। गीता-वाक्य अवश्य सत्य है; किन्तु ईश्वर जीव को क्यों पाप में नियुक्त करता है, और जीव तन्निमित्त क्यों दुःख-भोग करता है?

गुरुः—जिस कर्म्म के फल से कर्म्मकर्त्ता को दुःख भोगना पड़ता है, उसको पाप, और जिस कर्म्म के फल से कर्म्मकर्त्ता को सुख भोगना पड़ता है, उसको पुण्य कहते हैं। कर्म्मकर्ता के सुख-दुःख भोग के प्रति लक्ष्य कर उसके कर्म्म की पुण्य और पाप संज्ञा होती है। जिस प्रकार वस्तुसमूह के रूपादि और गुण की विभिन्नता देखकर उनकी पृथक् पृथक् (जैसे अग्नि, जल, वायु, इत्यादि) संज्ञा होती है, उसी प्रकार कर्म्मसमूह के भी फल के प्रभेद को देख कर, उनकी पाप और पुण्य संज्ञा होती है। प्राणहानिकर हलाहल भी जगत् में है, आयुर्वृद्धिकर औषधादि भी जगत् में हैं। समयानुसार दोनों

की प्रयोजनीयता भी है। वास्तव में जगत् में कोई दो वस्तुयें ठीक एक प्रकार की नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु में कुछ विशेषत्व है जो दूसरी में नहीं है। प्रत्येक वृक्ष में असंख्य पत्ते होते हैं, किन्तु प्रत्येक का औरों से किञ्चित् पार्थक्य भी है। इसके द्वारा ब्रह्मसत्ता की अनन्तता प्रकाशित होती है। कर्म्मसमूह के पाप-पुण्यादि के प्रभेद भी इसी प्रकार के हैं। जिन सब शक्तियों के द्वारा जगत् की स्थिति नियमित होती है, उनमें क्षुद्रतम एक परमाणु में जो शक्ति है, वह शक्ति भी जगत् का एक अत्यावश्यकीय अङ्ग है। इस एक परमाणु का यदि एक-कालीन विनाश सम्भव होता, तो समस्त विश्व उलट पलट जाता; और उस परमाणु की शक्ति के अभाव के कारण, अपर समस्त शक्तियों के कार्य विपरीत अवस्था को प्राप्त होते। जैसे एक लौहनिर्मित यन्त्र के बृहत् होने पर भी, उसके किसी स्थान के एक क्षुद्र पेंच के गिर जाने से, वह अकर्म्मण्य हो जाता है, वैसे ही इस जगद्रूप बृहत् यन्त्र के एक परमाणु के ध्वंस होने पर जगद्व्यापार समूह का विपरीत अवस्था प्राप्त होना अनिवार्य है। किसी ज्ञानी पुरुष ने कहा है कि, "तुम्हारे मन में इस समय जो एक क्षुद्र चिन्ता उपस्थित हुई है, उसकी तुम उपेक्षा करते हो; किन्तु स्मरण रहे कि, ब्रह्माण्ड में अनन्त काल से जो सब शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, उनका अनिवार्य फल इस मुहूर्त में तुम्हारे मन में इस चिन्ता का उदय होना है। सत्य है कि, यह चिन्ता जिस मुहूर्त में उदय होती है, उसके

दूसरे ही मुहूर्त में वह अदृश्य हो जाती है; किन्तु इसकी शक्ति अविनाशी—अनन्त काल स्थायी—है, अनन्त काल पर्य्यन्त विश्व-ब्रह्माण्ड को यह चालित करेगी। अतएव यह क्षुद्र चिन्ता भी तुच्छ पदार्थ नहीं है।" देखो, किसी तड़ाग के जल में यदि एक क्षुद्र मृत्खण्ड निक्षेप करो, तो निस्सन्देह इस व्यापार को तुम अति सामान्य समझोगे। बालक सदैव ऐसा करते हैं। इसको सभी एक तुच्छ अकिञ्चित्कर कार्य समझते हैं। किन्तु निविष्ट-चित्त होकर विचार करने पर देखोगे कि, जल में पतित होकर उस क्षुद्र मृत्खण्ड के उस स्थान के जलीय बिन्दुसमूह पर आघात करने के कारण, उस स्थान के जलीय बिन्दु हट कर पार्श्ववर्ती जलीय बिन्दुसमूह पर आघात करते हैं। वे पार्श्ववर्त्ती बिन्दु पुनः अपने पार्श्ववर्त्ती बिन्दुसमूह पर आघात करते हैं। इससे क्षुद्र क्षुद्र तरङ्गें चारों ओर विस्तृत होकर बृहज्जलाशय के प्रान्तस्थान स्थित मृण्मय तट पर आघात करती हैं। वह आघात कितना ही क्षुद्र क्यों न हो, पर वह व्यर्थ होने का नहीं। यह शक्ति अवश्य जलसंलग्न मृत्तिका-खण्ड में संचारित होगी, और उसमें संचारित होने पर क्रम से समस्त भूमण्डल-व्यापिनी होगी; पुनः पृथ्वी से चतुर्दिक्स्थ वायुमण्डल में संचारित होकर, अनन्तकाल पर्य्यन्त समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होगी। अतएव इस क्षुद्र घटना का फल इतना महत् है कि, सम्यक् रूप से विचार करने पर भी उसका अन्त नहीं मिलता। इसी प्रकार मनुष्य-जीवन के प्रत्येक कार्य का फल भी समग्र विश्व-

व्यापी है। कितना ही क्षुद्र क्यों न हो, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक कार्य समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध-विशिष्ट है। किसी एक स्थान पर यह दृष्टतः दुःख फल उत्पादन कर सकता है, किन्तु विश्व-ब्रह्माण्ड की स्थिति (equilibrium) की रक्षा करने के हेतु यह एक अत्यावश्यकीय शक्ति है। एक दृष्टतः कुत्सित कार्य के द्वारा भी समस्त जगत् का जो विशेष कल्याण साधित हो सकता है, वह एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ। तुम लोगों ने रामायण पढ़ा है। यदि रामायण न भी पढ़ा हो तो भी, श्रीरामचन्द्र जी की लीला का कीर्तन तो अवश्य सुना होगा। रामायण में उल्लिखित है कि, महाराज दशरथजी ने एक दिवस सभास्थल में प्रकाश किया कि, कल अपने सर्व-गुणाकर ज्येष्ठ-पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को यौवराज्य पद पर अभिषिक्त करेंगे; यह सुन कर समस्त प्रजा-मण्डली आनन्द-सागर में निमग्न हो गई। सभी एकस्वर से श्रीदशरथजी के संकल्प की और श्रीरामचन्द्रजी के गुणों की प्रशंसा करते हुये आनन्द में मग्न होकर नृत्य करने लगे। श्रीरामचन्द्रजी के अभिषेक का मुहूर्त्त निरूपित हुआ, उनके अभिषेक के निमित्त सप्त समुद्रों का जल संग्रह किया गया और समस्त द्रव्य-सम्भार सुसज्जित किया गया। उसके दूसरे दिवस प्रातःकाल श्रीरामचन्द्रजी का अभिषेक होगा। श्रीदशरथजी को पूर्ण विश्वास था कि, उनकी सर्वापेक्षा प्रिय महिषी कैकेयी यह संवाद सुन कर अत्यन्त आनन्दित होंगी; कारण, राजा को

ज्ञात था कि कैकेयी श्रीरामचन्द्रजी को स्वीय पुत्र श्रीभरतजी की अपेक्षा अधिक प्यार करती थीं, और श्रीरामचन्द्रजी की भी कैकेयी के प्रति अचला भक्ति थी। अतएव यह आनन्द-कर संवाद स्वयं उनको सुनाने के हेतु उन्होंने अन्तःपुर में प्रवेश किया। रानी उसके पहिले ही अपनी प्रिय दासी मन्थरा के मुख से वह संवाद सुन कर आनन्द से पुलकित होकर मन्थरा को बहुमूल्य पुरस्कार प्रदान करने को उद्यत हुई थीं; किन्तु मन्थरा के कण्ठ पर दुष्टा सरस्वती के आविर्भूत होने के कारण, वह रामचन्द्रजी के अभ्युदय में आनन्द प्रकाश करने के लिये कैकेयी को तिरस्कार करने लगी और उनको ऐसी मन्त्रणा दी कि, उससे उनकी बुद्धि निपट कलुषित हो गई। उन्होंने तत्क्षण कोपभवन में जाकर भूमिशय्या पर कम्पित-कलेवर हो शयन किया। अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर श्रीदशरथजी कैकेयी को उस अवस्था में देख, उनके क्रोध का कारण न जान, उस क्रोध की शान्ति के निमित्त उनको उनके वाञ्छित वर के प्रदान करने में प्रतिज्ञाबद्ध हुये। तत्पश्चात् कैकेयी ने पापीयसी पिशाची की भाँति अतिकठोर मर्मभेदी वाक्यों से महाराज श्रीदशरथजी के पूर्वाङ्गीकृत दो वरदानों की प्रतिज्ञा को दृढ़तर करने के निमित्त राजधर्म्म का स्मरण करा कर, श्रीरामचन्द्रजी का चतुर्दश-वर्ष के निमित्त वनवास और उसी चतुर्दश वर्ष के निमित्त श्रीभरतजी की यौवराज्य-प्राप्ति, इन दोनों वरों की प्रार्थना की। उसके पश्चात् अकस्मात् वज्राघात से पीड़ित

होकर मनुष्य जिस प्रकार आर्त्तनाद करता है, उसी प्रकार आर्त्तनाद करते हुये राजा दशरथजी ने कैकेयी को नाना प्रकार से समझा कर उनकी इस दुष्ट अभिलाषा को त्याग कराने की चेष्टा की, किन्तु कैकेयी का मन किञ्चित् भी विचलित नहीं हुआ। कैकेयी क्रमशः कठोर से कठोरतर हो कर राजा को प्रतिज्ञा-भङ्ग के निमित्त तिरस्कृत करने लगीं। महाराज दशरथ ने कहा कि, श्रीरामचन्द्रजी के विरह में वे अवश्य प्राण त्याग करेंगे और कैकेयी को अवश्य वैधव्य-दशा-प्राप्त होगी, तब भी उनका कठोर मन किसी प्रकार से भी विचलित नहीं हुआ। प्रातःकाल में इन सब वृत्तान्तों को कैकेयी के मुख से ही श्रवण कर, श्रीरामचन्द्रजी ने स्थिर, अविचलित, शान्त चित्त से पिता को प्रतिज्ञा-पाश से विमुक्त करने के निमित्त कैकेयी के समीप अपना चतुर्दश-वर्षव्यापी वनवास अङ्गीकार किया। तत्पश्चात् उनके साथ वनगमन में दृढ़प्रतिज्ञ होकर श्रीजानकीजी के कैकेयी के समीप आने पर, राजपुरी में सर्वत्र हाहाकार-ध्वनि उपस्थित हुई। वशिष्ठादि ऋषियों ने, मन्त्रिवर्ग ने, तथा आत्मीय स्वजन, सभों ने उपस्थित होकर कैकेयी को प्रबोधित करने की चेष्टा की, किन्तु कैकेयी का कठोर भाव क्रमशः बढ़ता ही गया; और वे किसी प्रकार से विचलित नहीं हुईं। अन्त में श्रीरामचन्द्रजी के वल्कल धारण कर वनयात्रा के लिये उद्योग करने पर, राजा दशरथ ने कैकेयी को धिक्कारते हुये, श्रीजानकीजी के निमित्त चतुर्दश वर्ष-व्यवहा-

रोपयोगी वस्त्रादि देने के हेतु आदेश किया, इसमें भी कैकेयी ने आपत्ति उत्थापित की। उनकी तात्कालिक उक्तियाँ ऐसी कठोर थीं कि, ब्रह्मज्ञ वशिष्ठ ऋषि पर्य्यन्त धैर्य्यच्युत की भाँति उनका तिरस्कार करने लगे। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने जानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ चतुर्दश वर्ष के निमित्त वनयात्रा की। महाराज दशरथजी ने भी तन्निमित्त विलाप करते करते शीघ्र ही देहत्याग किया, और पुरवासी लोग हाहाकार करते हुये अगाध दुःखसागर में निमग्न हुये।

रामायण में वर्णित इन सब घटनाओं को पढ़ कर कौन मनुष्य बिना अश्रुपात किये रह सकता है? कैकेयी के इस कार्य की निन्दा शतमुख से वर्णन करना भी प्रचुर नहीं है, ऐसा कौन नहीं अनुभव करता? सर्व सम्बन्ध में दुःखदायक ऐसे कर्म्म की अपेक्षा अधिकतर पाप-कर्म्म की और क्या कल्पना की जा सकती है? अद्यावधि भारतवर्ष में लोग सर्वत्र कैकेयी के इस कर्म्म को पाप का पराकाष्ठास्थानीय समझते आये हैं। किन्तु इस कर्म्म का अन्तिम फल क्या है, इस पर विचार करने से देखोगे कि, इसके द्वारा जागतिक जीवसम्बन्ध में अभूतपूर्व कल्याण संसाधित हुआ था। रावण प्रमुख राक्षसगण बलीयान् होकर जागतिक अशेषविध अकल्याण साधित करने लगे थे, उनके द्वारा ऋषियों की तपस्या भ्रष्ट होती थी; याग-यज्ञादि क्रियायें विलुप्तप्राय हुई थीं; देवगण स्थानभ्रष्ट हुये थे; राक्षसों के अत्या-

चार से त्रिलोक अति शोचनीय अवस्था में पतित हुआ था। रावण सुन्दरी स्त्रियों को जहाँ देखता था, उनको हरण कर उनका सतीत्व नष्ट करता था। साधु सज्जन कोई मुहूर्त्तमात्र के लिये भी निरुद्विग्न मन से वास नहीं कर सकते थे। श्रीरामचन्द्रजी के वनगमन के कारण रावण तथा अन्य राक्षसों के साथ उनका संग्राम उपस्थित हुआ। उन्होंने राक्षस-कुल के सहित वरोन्मत्त रावण को विनष्ट कर त्रिभुवन को निष्कण्टक किया। पुनः सर्वत्र शान्ति तथा धर्म्म की स्थापना हुई। ऋषिगण निरुद्विग्न हो कर तपश्चरण में प्रवृत्त हुये; कुल-कामिनी-गण सतीत्व-ध्वंस के त्रास से विमुक्त हुईं, तथा सर्वत्र आनन्दध्वनि उत्थित होने लगी। परन्तु कैकेयी का वह पाप-कार्य ही जगत् के एवंविध कल्याण का मूल है। इस पर विचार करने से यह कैसे कहा जा सकता है कि, केवल पुण्य कार्य-द्वारा ही जागतिक कल्याण साधित होता है और पाप कार्य्य द्वारा कल्याण नहीं होता है ? विश्वनियन्ता अपने किसी अङ्ग-विशेष (जीव) द्वारा दुःखदायक पाप कार्य्य साधित करके भी जगत् का कल्याण ही साधित करता है। पर जो व्यक्ति पाप कार्य करता है, उसको तन्निमित्त दुःखभोग अवश्य करना पड़ता है। तुम वामहस्त से शौच कर्म्म किया करते हो; इसके द्वारा तुम्हारे समग्र शरीर का कल्याण ही साधित होता है; किन्तु वह शौच-कर्म्म करने के हेतु तुम्हारा वामहस्त दुर्गन्धमय होकर अपवित्र होता है; पश्चात् मृत्तिकादि द्वारा घर्षण से वह दुर्गन्ध दूर होता

है, और हाथ पवित्र होता है। इसी प्रकार ईश्वर किसी जीव-रूप अङ्ग के द्वारा, जिसको पाप कहते हैं, ऐसा कर्म कराकर जागतिक कल्याण ही का विधान करता है; किन्तु उस जीव-रूप अङ्ग को उस कर्म्म के हेतु दुःखभोग अवश्य करना पड़ता है। इसके द्वारा वह जीव पश्चात् विशुद्धता प्राप्त करता है।

परन्तु इस उपदेश द्वारा पाप कर्म्मों में अपनी मति को नियुक्त होने न देना चाहिये। सत्य है कि, ज्ञानी पुरुष अपने अन्तःकरण में पाप और पुण्य में समभाव रखते हैं, किन्तु कर्म्म-क्षेत्र में वे कभी पापकर्म्म में नियुक्त नहीं होते, और पाप-कर्म्म को प्रश्रय नहीं देते। पाप-कर्म्मकारी की बुद्धि कदापि ऐसी निर्मलावस्था प्राप्त नहीं कर सकती, जिससे पूर्वोक्त निर्म्मल ज्ञान उसके अन्तःकरण में स्थान प्राप्त कर सके। जो कुछ निर्म्मलता रहती भी है, वह पाप-कर्म्म-द्वारा विनष्ट हो जाती है, और उसके अधःपतन तथा दुःखभोग अवश्यम्भावी हैं। यह सदैव स्मरण रखना कि, दूसरे के कार्य में पाप-दर्शन कर तत्प्रति विद्वेषभावापन्न न होना ही उक्त ज्ञान-साधन का शुभ फल है। जागतिक प्रत्येक वस्तु की विशेष विशेष शक्तियाँ हैं; ये शक्तियाँ भगवच्छक्ति हैं। इनका भगवच्छक्ति कह कर ही सम्मान करना, किसी शक्ति की अवज्ञा न करना। ब्रह्मज्ञ पुरुष को चन्दन और विष्ठा में सम-ज्ञान होता है, यह सत्य है; किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि, चन्दन का जिस भाँति पूजादि कार्य्य में व्यवहार किया जाता है, विष्ठा का भी तद्रूप

व्यवहार किया जाता है। ऐसा विकृत ज्ञान अपने में उपजात न होने दो। विष्ठा की शक्ति और चन्दन की शक्ति में बहुत प्रभेद है। अतएव दोनों के व्यवहार का फल समान नहीं है। विष्ठा शूकरादि जीवों का आहार्य है, उसके द्वारा उनके शरीर का पुष्टि-साधन होता है। चन्दनाहार से उनकी वह शारीरिक पुष्टि साधित नहीं होती। तुम्हारे शरीर के चन्दनलिप्त होने से जो सात्विक वृत्ति उदय होती है, विष्ठालेपन-द्वारा उसके विपरीत फल होगा; तद्द्वारा तुम्हारी तामसिक वृत्तियाँ वृद्धि प्राप्त कर तुम्हारी बुद्धि को भ्रष्ट करेंगी, तथा शरीर में रोगोत्पादन करेंगी। अग्नि और हलाहल, प्रत्येक में विशेष विशेष शक्तियाँ हैं; ये सब भगवच्छक्ति हैं। इन शक्तियों की अवज्ञा कर, जो व्यवहार में अन्य द्रव्य के साथ इनकी समता करेंगे, वे मृत्यु को प्राप्त होंगे। सभी वस्तुयें ब्रह्ममय हैं, ऐसा केवल बुद्धि-द्वारा विचार कर जो अग्नि में हस्त प्रदान करेगा उसका भी हाथ दग्ध होगा; जो हलाहल पान करेगा, उसकी भी मृत्यु होगी। यह वास्तव में ब्रह्मज्ञान नहीं है; कारण, अग्नि और हलाहल में जो भगवान् की विशेष शक्तियाँ हैं, उनकी अवज्ञा कर वह मूढ़-बुद्धिवश ही वैसे कार्य में प्रवृत्त होता है। अतएव यथार्थ ब्रह्मज्ञ साधक प्रत्येक वस्तु की शक्ति को भगवच्छक्ति मान कर उसकी पूजा करेंगे; कभी उसकी अवज्ञा न करेंगे। वस्तुसमूह तथा कार्यसमूह की विशेष विशेष शक्तियों को

जान कर ऋषियों ने शास्त्रों के द्वारा प्रकाशित किया है कि, किस वस्तु का किस प्रकार से व्यवहार करना पड़ेगा, (जैसे कौन वस्तु आहार्य होगी, कौन वस्तु आहार्य नहीं होगी; कौन कार्य करणीय होगा, कौन नहीं होगा, इत्यादि)। व्यवहार-विषय में शास्त्रवाक्य का उल्लंघन करना किसी का कर्त्तव्य नहीं है। परन्तु यह सत्य है कि, एक वस्तु की शक्ति अन्य वस्तु की शक्ति के द्वारा प्रतिहत हो सकती है; जैसे रोग की शक्ति औषधि की शक्ति के द्वारा प्रतिहत होती है। साधकगण भी क्रमशः साधनादि द्वारा ऐसे शक्तिसम्पन्न हो सकते हैं कि, उस स्थिति में वे अपर समस्त पदार्थों की शक्तियों के कार्य को प्रतिहत करने में समर्थ होते हैं। उनके सम्बन्ध में व्यवहार-विषयक शास्त्राधीनता का अवलम्बन करना आवश्यकीय नहीं है। तब वे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकते हैं। परन्तु कार्य काल में व्यवहार-शास्त्र के अनुवर्त्ती होकर ही वे आचरण करते हैं। यह केवल लोक-शिक्षा के निमित्त है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्त्तते॥

तृतीय अध्याय, २१ श्लोक।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार आचरण करता है, उसे देख दूसरा भी वैसे ही करता है। जिसको कर्त्तव्य कह कर वह अपने कार्य-द्वारा प्रमाणित करता है, उसी का लोग अनुकरण करते हैं।

अतएव

सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
योजयेत्सर्वकर्म्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

(गीता, तृतीय अध्याय, २५, २६ श्लोक ।)

अर्थात् (फल-कामना प्रयुक्त) कर्म्म में आसक्तचित्त होकर अज्ञानी पुरुष जिस प्रकार (शास्त्रविहित कार्य्यों का) आचरण करते हैं, ज्ञानी पुरुष भी लोगों को धर्म्म में प्रतिष्ठित रखने के हेतु अनासक्त भाव से उसी प्रकार आचरण करेंगे। (शास्त्र-विरुद्ध कर्म्म का अनुष्ठान कर) ज्ञानी पुरुषों को कर्म्म-फलासक्तचित्त अज्ञ पुरुषों की बुद्धि में संशय उत्पादन नहीं करना चाहिये। स्वयं ब्रह्म में सदैव युक्त रह कर विद्वान् व्यक्ति कर्म्मों का (यथा विधि) आचरण कर अज्ञों को उन (कर्म्मों) में नियुक्त करेंगे। कहीं कहीं पुराणों में वर्णित है कि, ब्रह्मज्ञ पुरुषों ने कभी कभी विशेष कारणवश शास्त्र विधि का उल्लंघन किया है; और यह भी सत्य है कि, वे अब भी किया करते हैं; परन्तु जागतिक विशेष कल्याण ही के हेतु वे ऐसा किया करते हैं। किन्तु उनके चित्त को कलुषित करने की सामर्थ्य इन सब कर्मों में नहीं है। ("तेजीयसां न दोषाय, वह्नेः सर्वभुजो यथा" श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, ३३ अध्याय,

श्लोक २९)। अतएव साधारण जनों के लिए उनके ये सब आचरण कदापि अनुकरणीय नहीं हैं, यह सदैव स्मरण रखना।

द्वितीय अध्याय

अवतारतत्त्व और जीवतत्त्व

विषयः—ब्रह्म के द्वितीय मूर्तरूप और अवतारतत्त्व की व्याख्या।

शिष्य—मुझे इन विषयों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न करना नहीं है, अतएव द्वितीय मूर्तरूप एवं अवतार-तत्त्व के सम्बन्ध में श्रीमान् ने जो वर्णन करना आरम्भ किया था कृपया वही विषय अब वर्णन कीजिये।

गुरु—जैसा कि हमने पूर्व ही में उल्लेख किया है, उपासना के निमित्त ब्रह्म चार प्रकार से वर्णित है। उसके इन चतुर्विध रूपों में दो अमूर्त हैं और दो मूर्त। जो रूप समस्त विश्वब्रह्माण्ड का आश्रयीभूत है, जिससे विश्य प्रकाशित एवं लय-प्राप्त होता है, वही अनिर्देश्य "सत्" रूप उसका प्रथम अमूर्तरूप है। यही रूप अक्षर ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म के नाम से आख्यात है। परन्तु यह "सत्" ब्रह्म अचेतन पदार्थ नहीं है, वह चिच्छक्तियुक्त है, जिससे वह स्वयं अपने स्वरूप को अनन्त रूप से अनुभव करता है। इस प्रकार चिच्छक्ति-विशिष्ट रूप में स्थित जो सद्ब्रह्म है उसी की ईश्वर संज्ञा है। यही ब्रह्म का द्वितीय अमूर्त रूप है। यही ईश्वर-रूपी ब्रह्म

पुरुषोत्तम नाम से आख्यात है। यही वासुदेव-शब्द-वाच्य है, यही सर्ववेत्ता भगवान् तथा सर्व्वप्रकाशक है। विष्णु-पुराणान्तर्गत षष्ठांश के पंचमाध्याय में उक्त है:—

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्व्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥८०॥

अर्थात् इसी परमात्मा ही में समस्तभूत अवस्थान करते हैं, एवम् वही सर्व्वात्मा सकल भूतों में वास करता है; इसी निमित्त वह वासुदेव नाम से अभिहित है।

पुनरपि ८२ वें श्लोक में भी उक्त है:—

भूतेषु वसते सोऽन्तर्व्वसन्त्यत्र तानि यत्।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥८२॥

अर्थात् यही सर्व्वभूतों के अन्तर में अवस्थान करता है, एवम् सर्व्वभूत इसी में वास करते हैं; यही जगत् का धारण कर्ता और विधाता प्रभु है; अतएव वासुदेव नाम से यह अभिहित है। यही सर्व्वव्यापी भूमा है, इसी अर्थ में यह विष्णु के नाम से भी आख्यात है।

स्वीय ईक्षणशक्ति-द्वारा ही ब्रह्म अपने में जगत् को प्रकाशित करता है। अतएव यह ईक्षण शक्ति ही जगत् का मूल निमित्त-कारण है। इसी ईक्षण-शक्ति-युक्त ब्रह्म (वासुदेव) ही को वेदों ने नानाविध भाषाओं में सभों से पर (उत्कृष्ट)

कह कर वर्णन किया है। यही अमूर्त है, इसी के द्वारा समस्त मूर्तियाँ प्रकाशित हैं। यही ईश्वररूपही ब्रह्म का द्वितीय अमूर्त रूप है।

पूर्वोक्त ईक्षणशक्ति-द्वारा ही ब्रह्म अनन्त विभिन्न रूपों में अपना दर्शन करता है। वे सभी रूप ब्रह्म के सद्रूप के साथ एकीभूत होकर वर्तमान हैं, यह विषय नानाविध दृष्टान्तों के द्वारा मैंने पहिले ही समझाया है।

ब्रह्म के स्वरूपान्तर्गत होने के कारण, एतत् समस्त (क्षुद्र, क्षुद्रतर, क्षुद्रतम, बृहत्, बृहत्तर, और बृहत्तम) रूप ही चिच्छक्ति विशिष्ट हैं, प्रत्येक में समष्टि तथा व्यष्टि भाव से चिच्छक्ति अनुप्रविष्ट है, दृष्टान्त-द्वारा तुमको हमने पहिले ही इसे समझा दिया है। प्रकाशित अनन्त-रूपी विश्व में समष्टिभाव से जो चिच्छक्ति प्रविष्ट है, उसके विश्वरूप देह (पुर) में अवस्थित रहने के कारण उस चिच्छक्ति की पुरुष-संज्ञा होती है (पुरि शेते इति पुरुषः)। यही हिरण्यगर्भ, कार्य्यब्रह्म, ब्रह्म, अनन्तदेव, इत्यादि नामों से अभिहित है। यही ब्रह्म का प्रकाशित प्रथम मूर्तरूप है। यह अनन्त विश्व ही इसका देह है। इस अनन्त विश्व के प्रत्येक क्षुद्र, क्षुद्रतर, क्षुद्र-तम, बृहत्, बृहत्तर, और बृहत्तम अंशों में भी चिच्छक्ति प्रविष्ट है। कारण, ब्रह्म समस्त का द्रष्टा तथा व्यष्टि का भी द्रष्टा है, इन विषयों की हमने पूर्व ही में व्याख्या कर दी है। उसकी उभय प्रकार दर्शन-शक्तियां नित्य हैं। व्यष्टिदर्शन-शक्तिरूप

उसका चित्कणा समूह प्रत्येक देह में अनुप्रविष्ट है, अतएव चिच्छक्ति विशिष्ट होने के कारण, प्रत्येक विशेष देह एक-एक पुरुष है। ज्ञानशक्ति के प्रकाश-भेद के कारण देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, लता, मृत्तिका, प्रस्तर आदि नाम से व्यवहार में प्रसिद्ध हैं। इस पुरुष की संख्या अनन्त है; कारण व्यष्टिरूप भी अनन्त हैं। चिच्छक्ति-युक्त यह अनन्त व्यष्टि-रूप ही ब्रह्म का द्वितीय मूर्त रूप है। परन्तु यह स्मरण रखने के योग्य है कि प्रत्येक रूप पूर्ण सद्ब्रह्म का आश्रित है। इस बात की पूर्व ही में विशेषरूप से व्याख्या की गई है। इन समस्त देहों में यह जो चित्कणा अधिष्ठान करती हैं, उन्हीं की जीव संज्ञा है। अतएव प्रत्येक जागतिक-वस्तु ब्रह्म-रूप में ध्येय है, प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की विशेष प्रकाशित अवस्था है। विष्णुपुराण के षष्ठांश के ७ वें अध्याय में लिखा है:—

एतत् सर्व्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम् ॥६०॥

* * *

एतान्यशेषरूपस्य तस्य रूपाणि पार्थिव ॥६७॥
यतस्तच्छक्तियोगेन व्याप्तानि नभसा यथा।
द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं महामते ॥६८॥

अर्थात् दृश्यमान एतत् समस्त चराचर, समग्र विश्व परब्रह्म विष्णु की शक्ति से समन्वित है ॥६०॥

हे पार्थिव ! ये समस्त रूप उसी अनन्तरूप विष्णु के रूप हैं। जिस भाँति कारण—आकाश-द्वारा समस्त जगत् व्याप्त है, उसी प्रकार विष्णुशक्ति-द्वारा एतत् समस्त व्याप्त है। हे महामते ! (सर्व्वव्यापक) विष्णु की यही द्वितीय ध्येय मूर्ति है ॥६८॥

परन्तु जागतिक समस्त रूपों के ब्रह्म के होने पर भी, इनमें शक्ति संबंध में अनन्त प्रभेद हैं; इसकी हमने पहिले ही व्याख्या की है। तुम्हारी दर्शन, श्रवणादि प्रत्येक शक्ति के आश्रय पूर्ण तुम्हारे होते हुए भी, जिस भाँति उन सब शक्तियों में पार्थक्य है, उसी प्रकार जागतिक प्रत्येक विशेषरूप के आश्रयीभूत पूर्णब्रह्म के होते हुए भी, इन समस्त विशेष विशेष पदार्थों की शक्तियों में अनन्त प्रभेद हैं। एक से जो कार्य्य होता है दूसरे से वह नहीं होता; प्रत्येक विशेष कार्य भगवान् अपनी विशेष मूर्ति-द्वारा संसाधित करते हैं। जगत् के पालन, रक्षण और अशेष विधि कल्याण-साधन के हेतु, सत्त्व-गुणमय गोलोक के अधिपति रूप से भगवान् प्रकट होते हैं। यह गोलोक प्रकटित अनन्त-विश्व में अनुपम ज्ञान और आनन्द का स्थान है। यह काम, क्रोध, हिंसा, द्वेष से वर्जित और निर्मल आनन्द-मय है। इस स्थान के अधिपति रूप में भी भगवान् कृष्ण नाम से आख्यात हैं। कृष्ण शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ की व्याख्या हमने पूर्व ही की है। प्रकाशित अनन्त विश्व में ज्ञान और आनन्दानुभव का जैसा उत्तम स्थान गोलोक है वैसा दूसरा कोई नहीं है। इस कारण गोलोकाधिपति ब्रह्म, कृष्ण, और वासुदेव

उभय नाम से आख्यात है। इस कारण कृष्ण और वासुदेव दोनों शब्दों के दो अर्थ हैं; एक अर्थ परब्रह्म और दूसरा गोलोक के अधिपति का बोधक है। अमूर्त ब्रह्म ध्यानोपयोगी होने के कारण, विशेष मूर्तिमान् गोलोकाधिपति रूप से प्रकटित हुआ है। अनन्त-विश्व-स्थित समस्त विशेषरूप के ब्रह्म के होने पर भी उसका गोलोकाधिपति कृष्णरूप सर्व्वापेक्षा श्रेष्ठ प्रकटित रूप है। उपासनानिमित्त यह प्रकटित रूप ही वैष्णवों के निकट विशेषरूप से अवलम्बनीय है। इस-लिए गोलोकाधिपति श्रीकृष्णरूप ही को विशेष कर ब्रह्म का द्वितीय मूर्त्त-रूप जानना चाहिये। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में उनकी मूर्ति का इस प्रकार से वर्णन हुआ है कि, वे द्विभुज, मुरली-धर, पीतवसनधारी, ईषत्‌हास्ययुक्त, उनका मुखमण्डल पूर्ण शशधर की भाँति सुन्दर और कमनीय, वे नवजलधर सदृश श्यामल और आजानुलम्बित बाहुविशिष्ट वनमालाधारी हैं। आनन्दांशप्रधाना श्रीराधिका उनके वामाङ्ग में अवस्थित होकर उनकी शोभा की पूर्णता सम्पादित कर रही हैं। शक्ति के उपासकगण उनको दुर्गा के नाम से आख्यात करते हैं। ये ही श्रीकृष्णजी अपने वैकुण्ठ नामक धाम में चतुर्भुज रूप धारण करके नारायण नाम से विख्यात हैं। वे ही कैलासाख्य धाम में महादेव का रूप धारण करके कैलासा-धिपति महेश्वर के नाम से आख्यात हैं। जिस भाँति योगीश्वर राजा राजसभा में सिंहासनस्थ होने के समय

एक प्रकार की वेष-भूषा धारण करके दर्शन देते हैं, योगसाधन के समय अन्य प्रकार का परिच्छद अवलम्बन करके योगासन पर विराजमान होते हैं और अन्तःपुर में विश्राम करने के समय अन्य प्रकार से सज्जित होकर विभिन्न मूर्त्ति में प्रकाशित होते हैं, इसको भी उसी प्रकार समझो। गोलोक को भगवान् के निज विश्राम करने का स्थान समझना चाहिये, वैकुण्ठ उनका सभास्थलस्वरूप है, और कैलास योग-साधन स्थान के सदृश है। एतत्समस्त ब्रह्म के विशेष मूर्तरूप हैं, अधिकारी भेद से विशेष विशेष रूप की उपासना का निमित्त ध्येय है।

अब तक ब्रह्म के दो प्रकार के अमूर्तरूप और दो ही प्रकार के मूर्त्तरूप वर्णन किये गये हैं। अब तुम्हारे जिज्ञासित अवतार-तत्त्व का वर्णन किया जायगा। परन्तु इस वर्णन के पूर्व तुम्हें एक विषय के सम्बन्ध में स्मरण कराना आवश्यक है।

पहिले ही कहा गया है कि, व्यष्टिभाव की दर्शन-शक्ति ब्रह्म में नित्य विद्यमान है, और उसी व्यष्टिभाव की दर्शन-शक्ति का नाम जीव है, व्यष्टि-दर्शन-शक्ति के अनन्त भेद हैं, इसी कारण जीव भी अनन्त हैं। ब्रह्म इसी व्यष्टि-दर्शन-शक्ति (चिच्छक्ति) द्वारा अनन्त विभिन्न रूपों में अपने को दर्शन करता है, इस कारण दृश्यस्थानीय पदार्थ भी अनन्त हैं। अनन्त पदार्थ एक संग व्यष्टिदर्शन शक्ति के विषयी-भूत नहीं हो सकते, इस कारण

समस्त दृश्य-वर्ग क्रम से जीव शक्ति के दर्शन के विषयी-भूत होते हैं। यही काल-शक्ति है; जीव काल-शक्ति के अधीन है। परन्तु दृश्य वर्ग के जीव-शक्ति के विषयी-भूत होने का अवधारित क्रम है। यही क्रम ही जीवज्ञान में कार्य्य-कारण-भाव से प्रकाशित है, और इसी से कर्म्म और कर्म्म-चेष्टा का ज्ञान उपजात होता है; इस लिए समस्त जगत् कार्य्य-कारण-संबंध में अवस्थित प्रतीत होता है, और एक वस्तु दूसरी वस्तु के कारण रूप से ज्ञात होती है। इन विषयों की पूर्व ही में व्याख्या हुई है; यही ब्रह्म का द्वैत-भाव है। इसी द्वैत-भाव के अवलम्बन से जागतिक समस्त व्यवहारिक कार्य्य प्रकाशित होते हैं। भाषा भी इसी के अवलम्बन से सृष्ट हुई है। ब्रह्म का यह द्वैत-भाव भी नित्य है। ब्रह्म एक होते हुए भी अपने को बहुरूपों में नित्य दर्शन करता है। परन्तु दृश्यमान उस अनन्तरूप का एकमात्र आश्रय वही है। जगत्रूप में उसके द्वैत-भाव का प्रकाश है। साक्षात् संबंध में भाषा ब्रह्म के इस प्रकाशित द्वैत भाव ही की ज्ञापक है। यह प्रकाशित अवस्था मिथ्या नहीं है, क्योंकि यह ब्रह्म का प्रकाश है। अतएव इस भाषा-प्रयोग में भी कोई दोष नहीं है। इस तत्त्व को स्मरण रखना चाहिये। इसके स्मरण रखने से इन समस्त उपदेशों में द्वैत-भाव की जो भाषा प्रयुक्त हुई है अथवा होगी, उसका यथार्थ भाव बोधगम्य करने में तुम भ्रम में न पड़ोगे।

देखा जाता है कि, प्रकाशित जगत् में दो भाव विद्यमान

हैं :—एक सुर (देव) भाव, दूसरा असुरभाव। श्रीमद्भगवद्गीता के षोड़श अध्याय में इसका वर्णन है। इस अध्याय के षष्ठ श्लोक में उक्त है :—

"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।"

अर्थात् इस लोक में दैव और आसुर भेद से दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि हुई है।

दैवभावापन्न प्राणी के सब गुण इसी अध्याय के प्रथम से तृतीय श्लोकों में इस प्रकार वर्णित हैं:—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अर्थात् भयशून्यता, बुद्धि की प्रसन्नता, आत्मज्ञान के उपाय की परिनिष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दा-वर्ज्जन, दया, लोभशून्यता, मृदुता, कुकर्म में लज्जा, बिना प्रयोजन इन्द्रियादि का व्यापाराभाव, तेज, क्षमा, धैर्य्य, शौच, परपीड़न में पराङ्मुखता, अपने को परमपूज्य कह कर अभि-

मानशून्यता, इन समस्त देवोपयोगी गुणों से युक्त होकर देव-भावापन्न व्यक्ति जन्म ग्रहण करते हैं।

असुरभावापन्न व्यक्तियों के गुण वर्णन करने में कहा गया है :—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अर्थात्, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता, अज्ञान यह समस्त आसुरगुण असुर-भावापन्न व्यक्तिगण को जन्म ही से मिलते हैं। अपरिमित आशा-पाश में बद्ध तथा काम-क्रोध-

परायण होकर ये सदा काम-भोगार्थ अन्यायपूर्वक अर्थ-संचय में व्रती होते हैं। ४। १२।

आज हमें यह लाभ होगा, यह वाञ्छनीय वस्तु प्राप्त होगी, यह मेरा है, यह धन भी हमें मिलेगा, इस शत्रु का हम विनाश करेंगे, औरों का भी विनाश करेंगे, हम ऐश्वर्य्यशाली, हम भोगी, हम सिद्ध, हम बलवान्, हम सुखी, हम धनवान्, हम कुलीन, हमारे सदृश और कौन है, हम यज्ञ करेंगे, (इसके द्वारा अपर समस्त की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता प्रतिपन्न करेंगे), दान करेंगे, आनन्द करेंगे, इस प्रकार अज्ञान-द्वारा ये आसुरभावापन्न पुरुष विमोहित हुआ करते हैं। १३, १४, १५।

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का अवलंबन करके आत्म और परदेह में अवस्थित हमारी हिंसा कर ये लोग साधु व्यक्ति के ऊपर दोषारोपण करते रहते हैं ॥१८॥

जगत् में इन सुर और असुर भावों के मध्य सर्वदा ही से संग्राम होता चला आ रहा है। सुरभाव के अभ्युदय के समय आने पर सुरभावापन्न जीवगण जयलाभ करते हैं। सुरभाव की जय दीर्घ-कालव्यापिनी होती है। परन्तु दीर्घ काल तक भोगने के कारण इसकी शक्ति क्षय हो जाती है, असुरभाव का पराक्रम वृद्धि-लाभ करता है, अन्त में असुर-भाव जययुक्त होकर सुरभाव को पराभूत करता है, और असुरभावापन्न जीव समस्त जगत् में अभ्युदय-सम्पन्न होते हैं।

परन्तु असुरभाव का अभ्युदय दीर्घकालव्यापी नहीं होता, अल्प-काल ही के भोग-द्वारा इसकी शक्ति क्षय-प्राप्त होती है। जिस समय असुरभावापन्न जीवगण अभ्युदयसम्पन्न होते हैं और उनके द्वारा सज्जन लोग पीड़ित होते हैं, धर्म की अतिशय ग्लानि होती है और समस्त सदाचार विलुप्त हो जाते हैं, उस समय विश्व के कल्याण-कर्त्ता, भगवान् गोलोकाधिपति श्रीकृष्णजी, तात्कालिक प्रयोजन के अनुसार, किसी न किसी जीव के देह का अवलम्बन कर, मर्त्यलोक के स्थूल इन्द्रियों के दर्शन योग्य होकर अवतीर्ण होते हैं, उसी समय उनको अवतार कहते हैं। वे अवतीर्ण होकर साधुगणों की रक्षा करते हैं और असुरों का विनाश करके धर्म्म-मार्ग प्रदर्शित करते हैं। (असुर भाव का अभ्युदय क्यों होता है; ऐसी आशंका न करना, पाप कार्य्य द्वारा अन्त में जगत् का कल्याण ही साधित होता है, इसका पहिले ही विस्तृतरूप से वर्णन किया है। तूफ़ान के आने पर बड़े बड़े वृक्षसमूह अतिशय पीड़ित हुआ करते हैं; यहाँ तक कि, कोई कोई टूट कर गिर भी पड़ते हैं। परन्तु तूफ़ान से बारम्बार कम्पित होकर वृक्ष-समूह के मूलदेशपर्य्यन्त आलोड़ित होने के कारण, तत्पार्श्वस्थित भूमि कुछ कुछ छिद्रयुक्त हो जाती है। उससे वृक्ष का मूल-समूह, भूगर्भ में सरलतापूर्वक प्रविष्ट होने में सुविधा पाकर, बड़े वेग से बढ़ने लगता है; अतएव तूफ़ान आने के कारण वृक्ष-समूह की दृढ़ता क्रमशः और भी वृद्धि लाभ करती है। इस

भाँति असुरभावापन्न व्यक्तियों के अभ्युदय-काल में उनके प्रपीड़न-द्वारा जन-समाज के पीड़ित होने पर भी, अन्त में उसके द्वारा सभों का कल्याण ही साधित होता है। जिस छिद्र के अवलम्बन से सुरों की साधन-शक्ति की क्षय तथा असुरों की जय हुई थी, उसे अवगत होकर भविष्यत् में उस विषय में सुरगण अधिकतर सावधान होते हैं।)

अत्याचारी के पीड़न से जन-समाज के अत्यन्त आर्तभावापन्न होने पर, दुःखहारी भगवान् आविर्भूत होकर उनका दुःख हरण करते हैं, यह श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में निम्नलिखित रूप से वर्णित है:—

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

अर्थः—जब जब धर्म्म की हानि और अधर्म्म का अभ्युदय होता है, तब तब मैं अपने को सृजन करता हूँ (अर्थात् अपने अवलम्बन के हेतु विशेष विशेष स्थूलरूप की सृष्टि कर उसके द्वारा प्रकाशित होता हूँ) ॥ ७ ॥

साधुओं के परित्राणार्थ और दुष्कर्मान्वित पुरुषों के विनाश तथा धर्म्म के संस्थापन के निमित्त, मैं युग-युग में जन्म ग्रहण किया करता हूँ ॥ ८ ॥

श्रीमद्भागवत में भी भगवदवतार का प्रयोजन इसी प्रकार से वर्णित है। भगवान् के अवतार असंख्य हैं; उनमें प्रधानतः द्वाविंश अवतार का वर्णन श्रीमद्भागवत में है। यह द्वाविंश अवतार जैसे प्रकटित हुआ है उसके वर्णन करने में श्रीमद्भागवतकार ने प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय के अन्तिम भाग में ऐसी भूमिका की है, यथा:—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा
श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः ॥२३॥

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्या गुणो विभुः ॥२९॥

तया विलासितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव।
अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भित ॥३०॥

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः॥
स्वनिर्म्मितेषु निर्व्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥३२॥

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देवतिर्य्यङ्नरादिषु ॥३३॥

अर्थ—सत्त्व, रजः, तमः ये तीनों प्रकृति के गुण हैं, इन तीनों गुणों से युक्त होकर एक परमपुरुष, जगत् के सृष्टि, स्थिति तथा

प्रलयकार्य्य के निमित्त, हरि, विरंचि और हर ये तीन नाम धारण करता है; परन्तु सत्त्व-मूर्ति ही से मनुष्य का कल्याण साधित होता है ॥२३॥

भगवान् स्वयं निर्गुण होकर भी कार्य्य-कारणरूपिणी गुणमयी माया-द्वारा पहिले इस विश्व का सृजन करते हैं ॥२९॥

चिच्छक्तिविशिष्ट भगवान्, प्रकाशित गुणमय पदार्थ-समूह के अन्तःप्रविष्ट होकर, गुणवान् की भाँति प्रकाशित होते हैं ॥ ३० ॥

वे, स्थूल महाभूत तथा सूक्ष्म तन्मात्र और इन्द्रिय तथा मनरूप गुणमय भाव-द्वारा स्वनिर्मित देव, तिर्यक् मनुष्यादिक सर्वजीवदेहों में अन्तःप्रविष्ट होकर, तदनुरूप गुणात्मक विषय-समूह को भोग करते हैं ॥ ३२ ॥

परन्तु वह लोकपाता परमेश्वर सत्त्वगुण ही के अवलम्बन से देव तिर्यक् मनुष्यादि रूपों में अवतीर्ण होकर लोक-समूह को वर्द्धित करता है ॥ ३३ ॥

अतः यह तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में विशेषरूप से अवतार के प्रकाश का क्रम वर्णित है, यथाः—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः ।
सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥१॥

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥२॥

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम् ॥३॥

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥४॥

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्य्यङ्नरादयः ॥५॥

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः ।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य्यमखंडितम् ॥६॥

अर्थः—लोकसृष्टि के हेतु भगवान् ने पहिले महत्तत्व अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र, (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) सहित एकादश इन्द्रिय (मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय) और पञ्चमहाभूत (क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम) युक्त षोड़श-कलाविशिष्ट पुरुषमूर्ति ग्रहण किया है। १।

(पूर्वोक्तत्रयोविंशति तत्त्वात्मक) स्वच्छसलिलवत् निर्मल देह में, (सुषुप्ति काल में अविच्छिन्न रूप से अनुभूत सुख की भाँति) आनन्दानुभवरूप योग में प्रशान्त भाव से प्रतिष्ठित उसी आदि-पुरुष के नाभिरूप सरोवर में स्थित कमल से प्रजापतियों के कर्त्ता ब्रह्मा प्रकाशित हुए ॥ २ ॥

इस पुरुष के विभिन्न अवयव ही विभिन्न लोक (भूरादि लोक) के रूप से कल्पित होते हैं। उसका यह रूप निरतिशय विशुद्ध सत्त्वगुणात्मक है ॥३॥

इस पुरुष के सहस्र (अनन्त) पाद, उरु, भुज, मुख, कर्ण, चक्षु, नासिका, और दीप्तिमान् सहस्र शिरोभूषण वस्त्र और कुण्डलविशिष्ट अत्यद्भुत रूप को ऋषिगण ज्ञानोन्मीलित नेत्र-द्वारा दृष्टिगोचर करते हैं ॥४॥

यह शुद्ध सत्त्वमय रूप ही अवतारसमूह का अव्यय (नित्य) उत्पत्तिस्थान है, और यही कार्य्यावसान में उनका प्रवेश स्थान है। इसके उपरान्त इस रूप ही के अंश और अंशांश द्वारा देवता, तिर्यक्, तथा मनुष्यसमूह सृष्ट होते हैं ॥५॥

इन आदिदेव ने प्रथमावतार में ब्राह्मण कुमार (सनक सनन्द, सनातन और सनत्कुमार) रूप में प्रादुर्भूत होकर दुःसाध्य अखंडित ब्रह्मचर्य्य-व्रत का अवलम्बन किया है ॥६॥

इसके पश्चात् ७ से २२ संख्यक श्लोकों में क्रम से द्वितीय वराह अवतार, तृतीय नारद, चतुर्थ नर-नारायण ऋषिद्वय, पंचम कपिल, षष्ठ दत्तात्रेय, सप्तम यज्ञ, अष्टम ऋषभ, नवम पृथु, दशम मत्स्य, एकादश कूर्म, द्वादश धन्वन्तरि, त्रयोदश मोहिनी, चतुर्दश नृसिंह, पञ्चदश वामन, षोडश परशुराम, सप्तदश वेदव्यास, अष्टादश रामावतार, आदि देव के ग्रहण करने के वर्णन के पश्चात् कहा गया है:—

एकोनविंशे विंशतितमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भारम् ॥२३॥

अर्थः— उसके पश्चात् (आदिदेव ने) एकोनविंशति और विंशति अवतार में वृष्णिवंश (यदुकुल) में राम (बलराम) तथा कृष्णरूप में अवतीर्ण होकर पृथ्वी का भार हरण किया था ।

पुनः २४ संख्यक श्लोक में (आदिदेव का) बुद्धावतार रूप और २५ श्लोक में कल्किरूप से भविष्यत् में अवतीर्ण होने का विषय उल्लिखित है ।

उसके पश्चात् उक्त है किः—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥२६॥

ऋषयो मानवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्व्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ॥२७॥

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे ॥२८॥

अर्थः—(सूत ने कहा है) हे ब्राह्मणगण ! जैसे अपचय-शून्य अगाध सरोवर से सहस्रसहस्र क्षुद्र जलप्रवाह निर्गत होते हैं, वैसे ही सर्व जीव के आधार हरि से असंख्य अवतार आविर्भूत होते हैं ॥२६॥

(मरिच्यादि) ऋषिगण, (स्वायम्भुवादि) मनुगण, (इन्द्रादि) देवतासमूह, महाबल मनुपुत्रसमूह, प्रजापति-गण—इन सभों को (उन्हीं) हरि की ही कला समझना ॥२७॥

ये सब उसी आदिपुरुष के कोई अंश, कोई कला हैं, किन्तु कृष्ण स्वयम् भगवान् हैं। ये सभी युग-युग में (अवतीर्ण होकर) इन्द्र-शत्रु असुरों के द्वारा प्रपीड़ित जगत् का कल्याण विधान करते हैं ॥२८॥

अन्यान्य पुराणों में भी इसी प्रकार से अवतार तत्त्व विभिन्न भाषा में व्याख्यात हैं। श्रीमद्भागवतान्तर्गत पूर्वोक्त श्लोकों में ऐसा वर्णित है कि, इस अनन्त समष्टिभावापन्न प्रकाशित जगद्रूप देह में अधिष्ठित जो प्रथम पुरुष है उससे ही अवतार रूप समूह प्रकाशित हुआ है। यह अवश्य सत्य है; क्योंकि समस्त व्यष्टि रूप ही उसी अनन्तरूपी आदिपुरुष भगवान् के स्वरूपान्तर्गत अंशविशेष हैं। परन्तु मैंने पहले ही कहा है कि, वही आदिपुरुष विशेष विशेष देहावलम्बन से विशेष विशेष कर्म सम्पादित करता है; श्रीमद्भागवतान्तर्गत द्वितीय अध्याय के पूर्वोद्धृत २३ श्लोक में यह स्पष्टरूप से वर्णित है। अतएव यह स्मरण रखना चाहिए कि, जगत् के धारण, पालन तथा कल्याण विधान-संबंधी अपने विशेष कार्य्य को वे गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण रूप से ही सम्पादित करते हैं; इसी कारण किसी किसी पुराण में गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही से

समस्त अवतारों की उत्पत्ति वर्णित है। इससे पुराणों में किसी प्रकार के विरोध रहने की कल्पना न करना चाहिये। सभी एक ही अभिप्राय के ज्ञापक हैं। परन्तु यह स्मरण रखना कि, अवतारों में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, प्रभृति, भगवान् (गोलोकाधिपति) के निज अवतार हैं, तथा अन्य सब अवतार उनके आवेश अवतार कह कर माने गये हैं; अर्थात् भगवान् ने उन सब जीव-देहों में अपनी शक्ति-मात्र संचारित कर विशेष कार्य्य सम्पादित किया है।

विषयः—श्रीकृष्णजी को भागवत के किसी किसी स्थान पर अंश, और कहीं कहीं पर पूर्ण क्यों कहा है ?

शिष्य—श्रीमद्भागवतान्तर्गत प्रथमस्कन्ध के तृतीय अध्याय के पञ्चम श्लोक की व्याख्या में आपने सुस्पष्टरूप से कहा है कि, विशुद्ध सत्त्वमय अनन्त जगद्रूप देह विशिष्ट जो आदि-पुरुष है उसी से समस्त अवतारों की उत्पत्ति हुई है, और अन्त में वे उसी में अनुप्रविष्ट होते हैं, और उसी आदिपुरुष से जिन सब अवतारादि का प्रादुर्भाव हुआ है, षष्ठ से सप्तविंश श्लोक पर्य्यन्त उनका वर्णन किया गया है; उनमें त्रयोविंशति श्लोक में विंशतितम अवतार कह कर श्रीकृष्णजी का उल्लेख किया है। इसके द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि, श्रीकृष्णावतार भी उसी आदि पुरुष का एक विशेष अवतार है; अतएव उसका अंश है। परन्तु उसी तृतीय अध्याय के अष्टाविंश श्लोक में "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य से कृष्णावतार को स्वयम् भगवान् कहकर

वर्णन किया है, और अन्य सब अवतारों को उस आदिपुरुष के अंश अथवा कला निर्देश कर श्रीकृष्ण को उन अवतारों से पृथक् किया है। एक ही अध्याय में ये दोनों श्लोक (एक पञ्चम और एक अष्टाविंश) हैं; किन्तु यह मेरी समझ में नहीं आता कि, इन दोनों श्लोकों का परस्पर सामञ्जस्य (ऐक्य) कैसे प्रतिपादित होता है। एक में श्रीकृष्ण को अंशमात्र और दूसरे में उनको स्वयम् भगवान् कहकर अन्य सब अवतारों से पृथक् किया है; दृष्टतः इन परस्पर विरुद्ध वाक्यों का किस भाँति सामञ्जस्य होगा ?

गुरु—श्रीमद्भागवतान्तर्गत तृतीय अध्याय के ५म और २३श श्लोकों के एकत्र पाठ करने से यह अवश्य ही प्रतीत होता है कि, कृष्णावतार भी उस अध्याय के प्रथम श्लोक में वर्णित आदिपुरुष का अंशविशेष है। श्रीमद्भागवत के अन्यान्य अनेक स्थानों पर उनको अंश ही कहकर वर्णन किया है। यथा,—दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में वर्णित है कि, भगवान् के जन्म ग्रहण के निमित्त देवकी-गर्भस्थ होने पर ब्रह्मादि देवगण ने आकर उनकी स्तुति की थी; उस स्तुति में उक्त है कि, उन्होंने देवकी को सम्बोधन करके कहा था—

"दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद्भगवान् भवाय नः ॥३५॥"

अर्थात्—हे मातः (देवकी) भाग्यवश ही, हम लोगों के

कल्याणार्थ परमपुरुष भगवान् ही स्वीय अंश से आपके गर्भ में आये हैं ॥३५॥

इसी प्रकार भागवत के और भी अनेक स्थानों में वर्णित है कि, भगवान् अंश से श्रीकृष्ण-रूप में आविर्भूत हुए थे; उनमें अनेक स्थलों पर "अंशेन" शब्द के अर्थ को घुमाकर "अंशरूप बलदेव के साथ" ऐसा किया जा सकता है, सत्य है; किन्तु वर्तमान स्थान पर श्लोकोक्त "अंशेन" शब्द का अर्थ "बलदेवेन सह" ऐसा करना कभी संगत नहीं हो सकता; कारण यह है कि, "कुक्षिगत" पद का भाव उस समय में गर्भस्थित ही अवश्य आभासित होता है। मथुरा में आकर उस समय गर्भ-स्थित भगवद्विग्रह के दर्शन कर उन्हीं का स्तव करते हुए देवकी को सम्बोधन कर देवगण ने उन वाक्यों का प्रयोग किया था। परन्तु उसके पूर्व ही रोहिणी के गर्भ से जन्म-ग्रहण कर बलदेवजी गोकुल में विराजमान थे, वे उस समय देवकी के गर्भ में नहीं थे; अतएव "अंशेन बल-देवेन सह ते कुक्षिगतः" इस प्रकार का अर्थ उन वाक्यों का कभी नहीं हो सकता। भागवत के और भी कई स्थलों पर "अंशेन" शब्द का दूसरा अर्थ करना कष्ट-कल्पना-द्वारा भी सम्भव नहीं है। (चतुर्थ स्कन्ध के प्रथम अध्याय का ४५ संख्यक श्लोक इत्यादि द्रष्टव्य।)

अन्यान्य अनेक पुराणों में, यहाँ तक कि महाभारत में भी, कृष्णावतार को अंश ही कहकर वर्णित किया है। वास्तव

में किसी विशेष-रूप के अवलम्बन करने से ही वह रूप अनन्त-देहधारी प्रथम पुरुष के अंश बिना और कुछ नहीं हो सकता। किन्तु अंश के होने पर भी सब अंशों में प्रकाशित शक्तियाँ एक प्रकार की नहीं होतीं, उनमें शक्ति-विषयक अनेक पार्थक्य भी हैं। कृष्णावतार में जिस प्रकार की शक्ति और ज्ञान प्रभृति प्रकाशित हुये थे उस भाँति अन्य किसी अवतार में नहीं हुए थे। कालीयदमन, गोवर्द्धनधारण, माता यशोदा और अर्जुन को, यहाँ तक कि, द्यूत-कार्य्य में जाकर दुर्योधन के सभासद् गणों को भी विराट्रूप प्रदर्शन, इन्द्र को पराभूत कर पारिजात आनयन, अस्खलित वीर्य्य रह कर सहस्र सहस्र स्त्रियों के साथ एक समय में विहार, वरुण लोक में जाकर पिता और गुरु-पुत्र प्रभृति का बलपूर्वक आनयन, लोकालोक अतिक्रम कर तमस् के परपारस्थित अनन्तदेव से ब्राह्मण-कुमार का उद्धार, इनके उपरान्त असंख्य त्रिभुवनविजयी असुरविनाश—इस भाँति का शक्ति-प्रकाशन-कार्य्य निश्चय ही अवतारों में भी अत्यन्त असाधारण है। जिस प्रकार के ज्ञानशक्ति का प्रकाश कृष्णावतार में हुआ था उसका भी उदाहरण अन्य अवतारों में नहीं मिलता। केवल शारीरिक शक्ति-प्रकाश विषय में अन्यान्य किसी किसी अवतार में कहीं कहीं समानता के दृष्ट होने पर भी, शक्ति, ज्ञान, अंगकान्ति, भक्त-वात्सल्य प्रभृति सर्वविध गुणों का एकत्र प्रकाशन और किसी अवतार में ऐसा नहीं हुआ है। इसी कारण अन्य अवतारों

से पृथक् रूप से, कृष्णावतार का वर्णन किया गया है। गोपाल-तापिणी श्रुति में भी कृष्णावतार को सब अवतारों में श्रेष्ठ कहा है। पूर्वोक्त २८ श संख्यक श्लोक में जो "एते चांश-कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" ऐसा कहा गया है उसका अभिप्राय वर्णन करने में टीकाकार श्रीधर स्वामी ने कहा है:—

"पुंसः परमेश्वरस्य, केचिदंशाः केचित्कलाः विभूतयश्च, तत्र मत्स्यादीनाम् अवतारत्वेन सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वेपि यथोपयोगमेव ज्ञानक्रिया शक्त्याविष्करणम्। कृष्णस्तु भगवान् साचात् नारायण एव आविष्कृतसर्वशक्तिमत्त्वात्।" अर्थात् (पूर्वोक्त द्वाविंश अवतारों में) कोई कोई परमेश्वर के अंश, कोई कोई कला तथा कोई कोई उनकी विभूति हैं। मत्स्यादि के उनके निज अवतार होने से उनमें सर्वज्ञत्व और सर्वशक्ति-मत्त्व का होना अवश्य स्वीकार्य है, परन्तु उन उन अवतारों में उतने ही ज्ञान और शक्ति का प्रकाशन हुआ था जितने की आवश्यकता थी। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वशक्तिमत्त्व के प्रकाश के कारण यह कहा गया है कि, वे साचात् नारायण ही थे। विश्वनाथ चक्रवर्तीजी की टीका में श्रीकृष्णावतार अंश कह कर स्वीकृत नहीं किया गया। तथापि मत्स्यादि अन्यान्य निज अवतारों के साथ पार्थक्य करने के हेतु टीका में ऐसी उक्ति है:—"सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिता, इति सत्यम्, तदपि तस्य माधुर्य्यैश्वर्य्यकारुण्यादिशक्ति-

प्राकट्यतारतम्येनैवांशत्वपूर्णत्वव्यवस्था ।" अर्थात् यह सत्य है कि, वे सभी सर्वगुण-पूर्ण तथा सर्वदोष विवर्जित थे, तथापि श्रीकृष्णावतार में प्रकटित माधुर्य्य, ऐश्वर्य्य कारुण्यादि शक्तियों के तारतम्य (न्यूनाधिकता) के कारण उनके अंशत्व और श्रीकृष्णजी के पूर्णत्व की व्यवस्था की गई है। वास्तव में टीका-कार श्रीधर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से जो वर्णन किया है कि, नारायण ही कृष्णरूप में आविर्भूत हुए थे, उसके अनुकूल श्रीमद्भागवतान्तर्गत चतुर्थ स्कन्ध में उल्लिखित है:—(नर नारायण को लक्ष्य कर कहा गया है)

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ।
भारव्ययय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥

—अध्याय १ श्लोक ४५

अर्थ:—वे दोनों (नर और नारायण) भगवान् हरि के अंश हैं; इस समय यहाँ यदुकुलतिलक कृष्ण और कुरुश्रेष्ठ अर्जुन रूप में, पृथ्वी का भार हरण करने के हेतु, आविर्भूत हुए हैं। (अर्जुन के दश नाम थे उनमें एक नाम कृष्ण भी है; नारायण यदुकुल के कृष्णरूप में और नर कुरु-कुल के कृष्ण (अर्जुन) रूप में आविर्भूत हुए थे)। यहाँ नारायण भी अनन्त भगवान् के अंशमात्र कहे गये हैं, यह भी कहा गया है कि, वे ही यदुकुल में श्रीकृष्ण रूप से आविर्भूत हुए थे। श्रीकृष्णावतार का अनन्त भगवान् का अंशमात्र होना भागवत

के प्रथम स्कन्धान्तर्गत तृतीयाध्याय के ५म और २३ श श्लोकों के अनुरूप यहाँ भी फिर स्पष्टरूप से वर्णित हुआ है। परन्तु श्रीकृष्णावतार में उन्हीं अंशरूपी नारायण ने अपनी पूर्ण शक्ति का प्रकाशन किया, अन्य अवतारों में उस भाँति की शक्ति प्रकाशित नहीं हुई, और यह स्पष्टरूप से बोधगम्य होता है कि, इसी कारण श्रीमद्भागवतकार ने श्रीकृष्णावतार को "भगवान् स्वयम्," और अन्य सब अवतारों को "अंशकला" कह कर प्रथमस्कन्धान्तर्गत तृतीयाध्याय के २८ श श्लोक में वर्णन किया है। मैंने अपने पूजनीय श्री श्री गुरुदेवजी महाराज से एक बार इस विषय की जिज्ञासा की थी, उस पर उन्होंने उत्तर दिया था, "कृष्णजी षोड़श कला था यह बात सच है; बाक़ी एक है सहस्र कला, वह कभी नहीं आता है, कभी नहीं जाता है"। उनका यह उत्तर सुन कर मेरी सारी शंका दूर हो गई; मुझे ज्ञात हुआ कि, इसके द्वारा विभिन्न शास्त्रों के विरोधवाक्य-समूह का विरोध मिट जाता है।

श्रीमद्भागवत के तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में ही जो अनन्त विराट् देहधारी प्रथम पुरुष वर्णित हैं, दृश्यमान सभी उनका देह है; गोलोक, वैकुण्ठ प्रभृति सभी उस देह के अन्तर्गत हैं। वे और कहाँ अवतार के लिये जायँगे? सभी के उनके एक अविभक्त देह होने के कारण, उनका गमनागमन हो ही नहीं सकता। वे विशेष-विशेष (हरि, हर, विरञ्चि इत्यादि)

मूर्त्तियों में जागतिक सृष्ट्यादि विशेष विशेष कार्य्य करते रहते हैं। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि, ये सब मूर्तियाँ उनके अंश हैं। जगत् के कल्याण-साधन के निमित्त अवतारग्रहण-कार्य्य होता है; परन्तु अपने अंशीभूत हरिरूप में वे यह कल्याण-साधन कार्य्य किया करते हैं। यह भागवतकार ने प्रथम स्कन्धान्तर्गत द्वितीय अध्याय के पूर्वोद्धृत २३-३३ श्लोकों में स्पष्टरूप से वर्णन किया है। अतएव उसी आदि पुरुष के अंशस्थानीय भगवान् हरि (नारायण) ही अवतार ग्रहण कर जागतिक कल्याण साधन करते हैं। उन्हीं भगवान् हरि (नारायण) ने पूर्ण शक्ति आविर्भूत कर कृष्णावतार ग्रहण किया, अतएव कृष्ण को पूर्णावतार कहते हैं; और सब (अवतारों) को शक्ति के तारतम्य (न्यूनाधिकता) के अनुसार उनका अंश अथवा कला-मात्र कहते हैं। परन्तु नारायण फिर भी तृतीयाध्याय के आरम्भ में उक्त अनन्त-देह महाविराट्-रूपी आदि-पुरुष का अंश-मात्र कह कर वर्णित हुये हैं। अतएव कृष्णावतार को भी उसी अनन्त पुरुष का अंशमात्र कह कर वर्णन किया है। और ग्रन्थकार ने व्याख्या की है कि, वे ही अनन्त प्रथम पुरुष, जिस नारायणरूप स्वीय अंश-द्वारा अवतार ग्रहण करते हैं, वे ही नारायण पूर्णरूप से कृष्णावतार में आविर्भूत हैं, अन्य अवतारों में अंश और कलारूप में आविर्भूत हैं। वास्तव में इस प्रकार के वर्णन में कोई विरोध नहीं है।

विषय—श्रीकृष्ण भगवान् ने मनुष्य-देह में किस प्रकार से विश्व-रूप का प्रदर्शन किया ? और उनके दर्शन से (अर्जुन को) मोक्ष क्यों नहीं हुआ ?

शिष्य:—अब तो इस विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं है; परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि, श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को किस प्रकार से अपने क्षुद्र मनुष्य-देह में विश्वरूप का दर्शन कराया; इस विषय में मुझे सन्देह है। और यह भी जानना चाहता हूँ कि, अनन्त विश्व-रूपी भगवान् के दर्शन करने पर भी अर्जुन का मोह क्यों नहीं विगत हुआ, वरन् उसने भयभीत होकर भगवान् से विश्व-रूप को संवरण करके मनुष्य-रूप प्रदर्शित करने की प्रार्थना की। श्रुति में है:—

"भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः।
क्षायन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

............इत्यादि

गुरु:—क्षुद्रकाय वस्तु में बृहत्काय वस्तु के दर्शन तो सदैव प्रत्यक्ष करते हो। एक क्षुद्र दर्पण में अनन्त आकाश का दर्शन किया जा सकता है। 'केमरा' यन्त्र के क्षुद्र छिद्र के भीतर कितनी बड़ी बड़ी अट्टालिकाएँ, नगर, वनप्रभृति का प्रदर्शन होता है। आलपिन के सिरे की भाँति क्षुद्र-बिन्दु-विशिष्ट एक अँगूठी के छिद्र में बृहत्काय नाना देव-देवियों की मूर्त्तियाँ सदैव देखते हो। अतएव क्षुद्र देह में विराट्रूप

का प्रदर्शन करना ऐसे आश्चर्य्य का विषय नहीं है। परन्तु इस प्रकार विराट्मूर्त्ति के प्रदर्शन करने की सामर्थ्य अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। इसमें सन्देह नहीं है कि, यह प्रदर्शन-शक्ति ही अद्भुत है। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं अवतार हैं; उनके लिये ऐसी शक्ति प्रकाशित करना कुछ भी आश्चर्य्य का विषय नहीं है। और साधारण जीव में भी जो सब शक्तियाँ अप्रकाशित भाव से हैं, उसे सम्यक् रूप से जानने पर इस विषय में तुमको इस भाँति आश्चर्य्यान्वित होने और इस घटना को असम्भव समझने का कोई कारण नहीं रहेगा। अतएव जीवतत्त्व सम्पूर्ण रूप से शास्त्रीय प्रमाण के सहित पहिले वर्णन करूँगा। पहिले ही मैंने जीव के स्वरूप का वर्णन किया है; परन्तु मुझे ज्ञात हो रहा है कि, तुम अब भी इसे भली भाँति समझ नहीं सके। शास्त्रीय प्रमाणों के साथ क्रम से जीव के स्वरूप, क्षमता और गति के वर्णन करने से तुम्हारा सन्देह नहीं रहेगा। मैंने पहिले ही कहा है कि सद्ब्रह्म सदा चिच्छक्तियुक्त है, इस चिच्छक्ति के द्वारा वह नित्य सम्यक् रूप से अपना दर्शन करता है। और यह भी मैंने कहा है कि, जिस भाँति नील-पीतादि सप्तवर्ण शुक्ल वर्णान्तर्गत हैं, परन्तु शुक्लावस्था में ये सब रंग पृथक् पृथक् रूप से दृष्ट नहीं होते, केवल प्रकाशित अवस्था में दृष्टिगोचर होते हैं; और जिस भाँति दर्शन, श्रवणादि समस्त शक्तियाँ चित्त के साथ अभिन्न होकर अप्रकाशित-भाव में वर्तमान

रहती हैं, केवल प्रकाशित अवस्था में पृथक् पृथक् रूप से प्रकटित होती हैं; उसी भाँति भूत, भविष्यत् और वर्तमान में प्रकाशित समस्त विश्वरूप उस सद्ब्रह्म के साथ सम्मिलित होकर अभिन्न भाव से वर्तमान हैं, और प्रकाशित अवस्था में पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं। ब्रह्म में जो चिच्छक्ति है उसी के द्वारा वह (ब्रह्म) अप्रकाशित अवस्था में स्थित स्वीय सद्रूप का दर्शन करता है, और उस सद्रूप से प्रकाशित अनन्त विश्व-रूप का भी सम्यक् रूप से दर्शन करता है। यह भी मैंने कहा है कि, यही चिच्छक्ति अनन्तरूप जगत् के प्रकाशन का मूलीभूत निमित्त कारण है। मैंने यह भी वर्णन किया है कि, इस समष्टि दर्शन-शक्ति के अन्तर्भूत रूप से अनन्त व्यष्टि दर्शन-शक्ति नित्य वर्तमान है, ये सब समष्टि दर्शन-शक्ति के अंगीभूत हैं। इस व्यष्टि दर्शन-शक्ति का नाम ही जीव है, अतएव जीव ईश्वर (समग्रदर्शन-शक्ति-विशिष्ट सद्ब्रह्म) का अंश-मात्र है। वह अंश नित्य है, इसके ध्वंस, प्रादुर्भाव नहीं हैं; यह अत्यन्त सूक्ष्म है, और इसका मैंने चित्कण कहकर वर्णन किया है। जीव के स्वरूप सम्बन्ध में श्रुति और स्मृति के वाक्य-समूह का सामञ्जस्य कर वेदान्तदर्शन में श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने जीव को स्वरूपतः पूर्वोक्त प्रकार से ही वर्णन किया है। यथा:—

(क) जीव ब्रह्म का अंश है।

वेदान्त दर्शनान्तर्गत द्वितीय अध्याय के ३य पाद के ४२–४४ संख्यक सूत्रों में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है:—

४२ सूत्र "अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके"।

(अंशः, नानाव्यपदेशात् = भेदव्यपदेशात् । अन्यथा च=अभेद-व्यपदेशात् । अपि—दाश + कितव—आदित्वम्—अधीयते-एके ।)

दाशः=कैवर्त्तः; कितवः=द्यूतसेवी, धूर्तः ।

श्रीनिम्बार्क भाष्यः । अंशांशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति, परमात्मनो जीवोंऽशः "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि"—त्यादिभेदव्यपदेशात्; "तत्त्वमसी" त्याद्यभेदव्यपदेशाच्च । अपि च आथर्वणिकाः "ब्रह्मदाशा, ब्रह्मदासा, ब्रह्मकितवा"—इति ब्रह्मणो कितवादित्वमधीयते ।

अर्थः—जीव और परमात्मा में अंश और अंशी का सम्बन्ध है; अतएव दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध प्रदर्शित होता है। जीव परमात्मा का अंश है। श्वेताश्वेतर प्रभृति श्रुतियों ने ब्रह्म और जीव को लक्ष्य कर कहा है:—"ये दोनों अनादि हैं; एक सर्वज्ञ, दूसरा असर्वज्ञ; एक ईश्वर, दूसरा अनीश्वर।" इन सब श्रुतियों ने ब्रह्म और जीव में भेद प्रदर्शित किया है। पुनः "तत्त्वमसि" (तुम जीव वही परमात्मा स्वरूप हो) इत्यादि वाक्यों से श्रुति ने ब्रह्म और जीव की अभिन्नता का उपदेश किया है। यहाँ तक कि अथर्वशाखिगण "ब्रह्म ही कैवर्त (दाश), ब्रह्म ही दास, ब्रह्म ही धूर्त्त" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म

ही को कैवर्तादि नीच जातीय जीव रूप कहकर भी वर्णन करते हैं। शांकरभाष्य में भी इस सूत्र का फलितार्थ इसी प्रकार वर्णित है; यथा:—

"अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः।"

अर्थ:—श्रुति के विचार से (ब्रह्म के साथ जीव के) भेदा-भेद सम्बन्ध के प्रमाणित होने पर, जीव ब्रह्म का अंश प्रतीत होता है। अंश के सभी अङ्ग अंशी में वर्तमान रहते हैं; अंश में ऐसा कुछ भी नहीं है जो अंशी में वर्तमान न हो; अतएव अंश अंशी से अभिन्न-पृथक्--नहीं है, इस अर्थ में दोनों में जो सम्बन्ध है वह अभेद सम्बन्ध कहलाता है। फिर अंश को अतिक्रम कर अंशी रहता है; अंशी व्यापक वस्तु है, और अंश उसका व्याप्य; अंश अंशी के अङ्गीभूत एक अव-यव-मात्र है; अतएव अंशी अंश से बृहत् है, दोनों सम्पूर्ण रूप से एक नहीं हैं। इस अर्थ में अंश और अंशी में भेद-सम्बन्ध भी है। अतएव अंश-अंशी के सम्बन्ध को भेदाभेद सम्बन्ध कहते हैं। ज्ञाज्ञौ इत्यादि श्रुति जो भाष्य में मूल-सूत्र का उक्त "नाना" शब्द की व्याख्या के निमित्त उद्धृत किया गया है, वह जीव और परमात्मा के भेद-सम्बन्ध का ज्ञापक है; और "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुति जो सूत्रोक्त "अन्यथा चापि" पद की व्याख्या के निमित्त भाष्यकार ने उद्धृत किया है, वह जीव और परमात्मा में अभेद सम्बन्ध का ज्ञापक है। अतएव उभयविध श्रुतियों के द्वारा जीव और

परमात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध का रहना प्रमाणित होता है और यह भी सिद्ध होता है कि जीव परमात्मा का अंश है। "त्वम् तत् असि"=तुम वही ब्रह्म, ऐसा कहने का यह आशय है कि, तुम्हारा सभी कुछ ब्रह्म में है, तुम ब्रह्म से भिन्न नहीं हो। जैसे "तुम मनुष्य हो" ऐसा कहने से यह समझा जाता है कि, तुम सम्पूर्ण रूप से ही मनुष्य के अन्तर्गत हो; किन्तु तुम्हें छोड़ कर और भी अनेक मनुष्य हैं; अतएव मनुष्यत्व तुम्हीं में पर्य्याप्त नहीं है, तुम मनुष्य के अंश-मात्र हो, दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध है। इसी भाँति जीव और परमात्मा में भी भेदाभेद सम्बन्ध है, जीव ब्रह्म का अंश-मात्र है।

अत:पर—४३ सूत्र में भी श्रुत्यन्तर के द्वारा उक्तसिद्धान्त को दृढ़ी-भूत कर—४४ सूत्र में श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवद्वाक्य-द्वारा इस विषय का अनुमोदन किया गया है।

यथा:—

अपि च स्मर्यते॥ (२ अ० ३ पाद–४४ सूत्र)

भाष्य:—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः **सनातनः**" इति जीवस्य ब्रह्मांशत्वं स्मर्यते॥

अर्थ:—स्मृति (श्रीमद्भगवद्गीता) ने भी ऐसा ही कहा है, यथा:—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः **सनातनः**"

(जीवलोक में मेरा ही अंश जीव-रूप में प्रकाशित होता है; यह जीव **सनातन** है) इत्यादि ।

शांकरभाष्य में भी इस सूत्र की व्याख्या में यही गीता वाक्य उद्धृत है ।

(ख) जीव नित्य है, इसका जन्म-मृत्यु नहीं है, देह-सम्बन्ध के निमित्त ही इसके जन्म-मृत्यु का वर्णन होता है ।

वेदान्तदर्शन, द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद १६ सूत्र:—

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥

[तद्व्यपदेश: जीवात्मन: जन्ममृत्युव्यपदेश: भाक्त: गौण: स्यात्, यतस्तयोर्जन्ममरणयोर्व्यपाश्रय: स्थावरजङ्गमशरीरविषय:, तद्भावे शरीरभावे जन्ममरणयोर्भावित्वात]

भाष्य:—जीवात्मा निर्णीयते;—"देवदत्तो जातो मृत:" इति व्यपदेशो गौणोऽस्ति । यत:, चराचरव्यपाश्रय: । शरीर-भावे जन्ममरणयोर्भावित्वात् ॥

व्याख्या:—चराचर देह के भावाभाव के प्रति लक्ष्य कर ही जीवात्मा के जन्म-मृत्यु का उपदेश किया गया है, जीव की जन्म-मृत्यु गौण है, मुख्य नहीं, देह-सम्बन्ध के कारण उसकी जन्म-मृत्यु कही जाती है ।

द्वितीय अध्याय, तृतीयपाद १७श सूत्र:—

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य: ॥

[न आत्मा (उत्पद्यते; कुतः)–अश्रुतेः (तदुत्पत्तिश्रवणाभावात्), ताभ्यः (श्रुतिभ्यः) आत्मनः नित्यत्वाच्च (नित्यत्वावगमाच्च)]

भाष्यः—जीवात्मा नोत्पद्यते कुतः ? स्वरूपतस्तदुत्पत्तिवचनाभावात् । "न जायते म्रियते वा विपश्चित्," 'नित्यो नित्यानाम्," "अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते" इत्यादि श्रुतिभ्यो जीवस्य नित्यत्वावगमाच्च ।

व्याख्याः—जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं है; कारण यह है कि, श्रुति ने उसका स्वरूपतः उत्पन्न होना नहीं कहा है, और "न जायते म्रियते वा" इत्यादि अनेक श्रुतियों में आत्मा का नित्यत्व कथित है ।

(ग) जीव स्वरूपतः "ज्ञ" अर्थात् द्रष्टास्वरूप है ।

द्वितीय अध्याय–तृतीय पाद १८ श सूत्रः—

ज्ञोऽतएव ॥

भाष्यः—अहमर्थभूतमात्मा ज्ञाता भवति ।

व्याख्याः—अहम् पद से वर्णित जीवात्मा नित्य "ज्ञ" अर्थात् द्रष्टास्वरूप है ।

मैंने पहिले ही तुमसे विशेषरूप में कहा है कि, व्यष्टिदर्शन-शक्ति-विशिष्ट ब्रह्म ही जीव है । यह व्यष्टिदर्शनशक्ति सम्यक्‌दर्शनशक्ति के अन्तर्भूत अङ्गविशेष है । अतएव जीव सर्वज्ञ परमात्मा का अंश है । परमात्मा कभी अंशविहीन नहीं होता । अतएव जीव का नित्यत्व भी सिद्ध है । जीव अति

सूक्ष्म, अणुवत् है। जीव को चित्कणा कहकर मैंने पहिले ही वर्णन किया है। वेदान्तदर्शनकार ने भी बहु श्रुतियों के सार-मर्म लेकर इसी सिद्धान्त का उपदेश किया है। यह नीचे प्रदर्शित किया जाता है:—

(घ) जीव स्वरूप में अणु स्वभाव है।

द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद, २२श सूत्र:—

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ॥

भाष्य:—"एषोऽणुरात्मा, बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीव" इति स्वशब्दोन्मानाभ्यां जीवोऽणुः ॥

अर्थ:—(जीवात्मा अणुप्रमाण है, जीव केशाग्र के शत भाग के शतांश सदृश सूक्ष्म है) इस श्रुतिवाक्य में अणु शब्द और उन्मान (सूक्ष्म से सूक्ष्म) वाचक शब्दों के रहने से जीव अणुस्वभाव है, विभु (व्यापक) स्वभाव नहीं।

(ङ) स्वरूपतः अति सूक्ष्म अणुस्वभाव होने पर भी जीव गुण में विभु होने के योग्य है, उसके गुण असंख्य हैं।

वेदान्तदर्शन; द्वितीयाध्याय–तृतीय पाद, २८ सूत्र:—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥

भाष्य:—बृहन्तो गुणा यस्मिन्निति ब्रह्मेति प्राज्ञवदात्मा विभुगुणत्वा "न्नित्यं विभु" मिति व्यपदिष्टः; दृष्टान्ते बृहदेव

प्राज्ञो गुणैरपि बृहद्भवति दार्ष्टान्ते तु जीवोऽणुपरिमाणको, गुणेन विभुरिति विशेषः ।

अर्थः—बृहद्गुण है, इस अर्थ में प्राज्ञ परमात्मा को जैसे ब्रह्म कहते हैं, वैसे ही जीवात्मा में गुण के विभुत्व होने के कारण, "नित्यं विभुम्" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से किसी किसी स्थल में जीवात्मा विभु कहा गया है । परन्तु स्वरूपतः जीवात्मा विभु नहीं है, प्राज्ञ-आत्मा (परब्रह्म) वास्तव में स्वरूपतः बृहत् है, अणु नहीं; तथापि गुण में बृहत् होने पर भी, "बृहन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों से वह बृहत् गुण-विशिष्ट अर्थ में ब्रह्म कहा गया है। परन्तु जीवात्मा स्वरूपतः अणु है, गुण से ही वह विभु कहा गया है। दोनों में यही प्रभेद है।

शाङ्करिक मत इस मत का विरोधी है। उनके मत में जीवात्मा स्वरूपतः ही विभु-स्वरूप है । वेदान्तदर्शन के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद की व्याख्या में मैंने इस पर विस्तृत रूप से विचार किया है। यदि आवश्यकता हो, तो वहाँ देख लो ।

जीवात्मा को स्वरूपतः भी विभु (सर्वव्यापक) कहने से, सभी जीव परमात्मा के साथ सम्पूर्ण रूप से एक हो जाते हैं, किसी प्रकार का भेद नहीं रहता । वेदव्यासजी ने पूर्वो-द्धृत सूत्र में जो अवधारित किया है कि, जीव परमात्मा का

अंश है तथा जीव और परमात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध है। उसके साथ इसका विरोध उपस्थित होता है; तथा कर्म और कर्म-फल के भोग का कोई नियम नहीं रहता; और बंध, मोक्षादि अवस्था-भेद भी असम्भव हो जाते हैं। वेदव्यासजी ने नानाविध सूत्रों के द्वारा इसका अवधारण किया है। इनमें से कई एक का नीचे उल्लेख किया जाता है, यथा:—

वेदान्तदर्शन, २ अ० ३ पा० ३१ सूत्र:—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥

भाष्य:—अन्यथा (सर्वगतात्मवादे) आत्मोपलब्ध्यनुपल-ब्ध्योर्बन्धमोक्षयोर्नित्यं प्रसङ्गः स्यान्नित्यबद्धो वा नित्यमुक्तो वाऽऽत्मेत्यन्यतरनियमो वा स्यात् ।

अर्थ:—जीवात्मा को सर्वगत और स्वरूपतः ही विभुस्वभाव कहकर स्वीकार करने से, उपलब्धि तथा अनुपलब्धि (ज्ञान तथा अज्ञान) दोनों ही जीवात्मा के नित्य हो जाते हैं; अर्थात् यदि जीवात्मा अणु न होकर स्वभावतः व्यापक-स्वभाव होता तो उसका नित्य सर्वज्ञत्व सिद्ध होता; और दूसरी ओर, संसार बन्धन (अज्ञान) के रहने के कारण, उसका वह अज्ञान भी नित्य होता; अतः बन्धन और मोक्ष—ये दोनों विरुद्ध धर्म्म नित्य होते। नहीं तो चाहे नित्य ही बद्ध अथवा नित्य ही मुक्त, इन दोनों में एक की व्यवस्था करनी पड़ती; बद्ध रहकर पश्चात् मुक्त होने की सङ्गति किसी प्रकार से नहीं होती।

[जीवात्मा के स्वरूपतः विभुस्वभाव होने पर, सर्वविध अन्तःकरण के साथ उसका नित्य संबंध रहना स्वीकार करना पड़ता, नहीं तो सर्व्वव्यापी शब्द अर्थ-शून्य हो जाता; अतएव सर्वविध अन्तःकरण के साथ समान संबंध रहने के कारण, किसी अन्तःकरण के अल्पदर्शी तथा किसी के सर्वदर्शी होने से, जीवात्मा के भी साथ ही साथ सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व (मोक्ष और बंधन) को स्वीकार करना पड़ता। यदि अन्तःकरण के केवल एकविधत्व (सर्वज्ञत्व अथवा अल्पज्ञत्व) की कल्पना कर, अथवा अन्य किसी प्रकार की कल्पित युक्ति-द्वारा इस आपत्ति से विमुक्त होना चाहो, तो जीवात्मा के नित्य-बद्धत्व अथवा नित्य-मुक्तत्व को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। जीवात्मा की बद्धावस्था से मोक्षावस्था-प्राप्ति की सङ्गति किसी प्रकार से नहीं कर सकोगे।]

द्वितीय अध्याय तृतीय पाद ४८ श सूत्रः—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥

(असन्ततेः सर्व्वैः शरीरैः सह संबंधाभावात्, अव्यतिकरः कर्मणस्तत्फलस्य वा विपर्य्ययो न भवति)

भाष्यः—विभोरंशत्वेऽपि गुणेन विभुत्वेऽपि चात्मनां स्वरूपतोऽणुत्वेन सर्व्वगतत्वाभावात् कर्मादि-व्यतिकरो नास्ति।

अर्थः—जीव विभु परमात्मा का अंश है, और जीव के गुणसमूह अपरिसीम होने पर भी, जीव के स्वयम् स्वभावतः

अणुस्वभाव (परिच्छिन्न) होने के कारण, उसका सर्वगतत्व नहीं है, अतएव (उसके) कर्म तथा कर्म-फल का व्यतिक्रम नहीं घटित होता; अर्थात् एक का कृत-कर्म और उसका फल दूसरे के आश्रित नहीं होता। जीवात्मा के स्वरूपतः विभु-स्वभाव (सर्व्वव्यापी) होने पर, समस्त जीवों के कर्म्म के साथ प्रत्येक जीव का सम संबंध होता; अतएव किसी को दूसरे के किये हुए कर्म के फलभोग करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, किसी विशेष कर्म के साथ किसी का विशेष संबंध रह नहीं सकता। परन्तु जो यह विशेष संबंध है, वह आत्मानुभव तथा शास्त्रसिद्ध है; अतएव जीव विभुस्वभाव (सर्वगत) नहीं है।

शांकरभाष्य में इस सूत्र के फलितार्थ की व्याख्या निम्नलिखित रूप से की गई है:—

न हि कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः सन्ततिः सर्वैः शरीरैः संबंधोऽस्ति। उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। उपाध्य-सन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः। ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति।"

अर्थः—कर्त्ता और भोक्ता जो आत्मा है, उसका समस्त शरीरों के साथ संबंध नहीं है; जीव स्वीय उपाधिगत देहनिष्ठ है, अपर देहों के साथ उसका संबंध नहीं है। उपाधिगत शरीर के सर्व्वव्यापित्व न होने के कारण, तन्निष्ठ जीव का भी

और समस्त देहों के साथ संबंध नहीं होता; अतएव कर्म्म अथवा कर्म-फल का व्यतिक्रम नहीं होता, जो जीव जिस कर्म को करता है वह कर्म उसी का होता है और उसका फल भी उसी को भोगना पड़ता है। (इस व्याख्या में जीवात्मा के समस्त शरीरों के साथ संबंध अस्वीकृत होने पर, जीव स्वभावतः विभु नहीं कहा जा सकता।)

द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद ४९ सूत्रः—

आभासा एव च ॥

भाष्यः—परेषां कपिलादीनां व्यतिकरप्रसङ्गात् सर्वगतात्मवादाश्चाभासा एव च।

अर्थः—कपिलादिकर्तृक उक्त सांख्यशास्त्र में आत्मा का विभुत्व उक्त है; अतएव उनकी उक्ति गृहीत होने पर, कर्म और कर्म-फल-भोग के व्यतिक्रम होने की प्रसक्ति होती है; अतएव आत्मा का सर्वगतत्ववाद (विभुत्ववाद) आभासा–मात्र अर्थात् अपसिद्धान्त है।

द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद ५० सूत्रः—

अदृष्टानियमात् ॥

भाष्यः—सर्वगतात्मवादेऽदृष्टमाश्रित्यापि व्यतिकरो दुर्वारोऽदृष्टाऽनियमात्।

अर्थः—आत्मा के सर्व्वगतत्ववाद में अदृष्ट का अवलम्बन

करके भी कर्म-भोग का व्यतिक्रम निवारित नहीं होता; कारण सभी आत्माओं के सर्वगत होने पर वे सभी तुल्य होते; अदृष्ट किस आत्मा का अवलम्बन करेगा, उस का कोई नियम नहीं रह सकता।

द्वितीय अध्याय-तृतीयपाद ५१ सूत्रः—

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥

भाष्य—अहमिदं करिष्ये, इदं नेति, संकल्पादिष्वप्येवमनियमः।

अर्थः—मैं ऐसा करूँगा, ऐसा नहीं करूँगा, इस प्रकार की अभिसन्धि (संकल्पादि) के विषय में भी आत्मा के सर्वगतत्ववाद में कोई नियम नहीं रह सकता।

द्वितीय अध्याय; तृतीय पाद ५२ सूत्रः—

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥

भाष्य—स्वशरीरस्थात्मप्रदेशात् सर्वं समञ्जसमिति चेन्न, तत्र सर्वेषामात्मप्रदेशानामन्तर्भावात्।

अर्थः—यदि कहो कि उन उन शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेश में ही संकल्पादि हो सकते हैं, अतएव उनके द्वारा अभिसन्धि तथा कर्म के नियम की सङ्गति हो सकती है, ऐसा भी तो नहीं कह सकते; कारण, सभी आत्मा समस्त शरीरों के अन्तर्भूत हैं, अतएव किसी विशेष आत्मा को किसी विशेष देह में विशेष रूप से अन्तर्भूत कह कर वर्णन नहीं कर सकते। इसका कारण

यह है कि, सभी आत्मा समानभाव से सर्वगत हैं; अतएव जीवात्मा का सर्वगतत्ववाद अपसिद्धान्त है।

विषयः—ईश्वर स्वरूपतः विभु है, किन्तु जीव स्वरूप में अणु और गुण में विभु है।

शिष्य—इन सब प्रमाणों तथा युक्तियों के द्वारा यह अवश्य प्रमाणित हुआ है कि, जीव स्वरूपत: अणुपरिमाण, किन्तु गुण में विभु है। कृपया इस विषय को इस भाँति समझा दीजिये कि, जिससे इसकी धारणा कर सकूँ। इन सब प्रमाणों के द्वारा केवल शाब्दिक बोध-मात्र उत्पन्न हुआ है।

गुरु—पुन: दृष्टान्त-द्वारा इस विषय को समझाता हूँ। तुम्हारी दर्शनेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय प्रभृति इन्द्रियों में प्रत्येक स्वरूपत: अति सूक्ष्म है, किन्तु दर्शनेन्द्रिय-द्वारा तुम व्यापक आकाश का भी दर्शन करते हो। श्रवणेन्द्रिय के सूक्ष्म होने पर भी, उसके द्वारा सूक्ष्म तथा स्थूल सर्वविध शब्दज्ञान होता है। इसी प्रकार रसना-द्वारा बहुविध स्वाद का ज्ञान होता है। तुम्हारी एकादशेन्द्रिय सभी इसी प्रकार की हैं; इनमें से प्रत्येक स्वरूपत: सूक्ष्म हैं, परन्तु विशेष विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पादित करती हैं। किन्तु तुम्हारी एक साधारण ज्ञानशक्ति है जिसको चित्त कहते हैं, और जिसका दूसरा नाम बुद्धि है। तुम्हारी एकादशेन्द्रिय सभी उस चित्त के अन्तर्गत हैं। दर्शन एक प्रकार की ज्ञानवृत्ति है, श्रवण भी एक प्रकार की ज्ञानवृत्ति है, रसना भी एक प्रकार की ज्ञान-वृत्ति है, इसी भाँति प्रत्येक

इन्द्रिय एक एक विशेष ज्ञानवृत्ति है। ये सब तुम्हारी साधारण ज्ञानवृत्ति—चित्त के अंश हैं। (जब तुम दर्शन अथवा श्रवण नहीं करते हो, तब वे तुम्हारे चित्त में लीन होकर एकीभूत रहती हैं, कार्य्य-काल में विशेष विशेष ज्ञान-शक्तिरूप से प्रकाशित होती हैं। अतएव तुम्हारी साधारण ज्ञानवृति (चित्त) व्यापक वस्तु है; विशेष विशेष इन्द्रियाँ उसकी सूक्ष्म अवयव-मात्र हैं। जिस प्रकार एक मृण्मय घट के स्कन्धादि विशेष विशेष अवयव हैं,—घट व्यापक वस्तु है और स्कन्धादि अवयव उसके व्याप्य; चित्त और इन्द्रियों में ठीक उसी प्रकार का व्याप्य और व्यापक संबंध नहीं है। कारण यह है कि, बुद्धि भी शक्ति है और उसकी अङ्गीभूत इन्द्रियादि भी शक्तियाँ हैं। यह सत्य है कि, शक्ति का विस्तार घटादि के विस्तार की भाँति नहीं हैं। परन्तु ऐसा न होने पर भी, एक शक्ति के अन्तर्भूत अन्य सब शक्तियों के होने के कारण, इनमें जो संबन्ध है उसको भी व्याप्य-व्यापक-संबंध कह कर वर्णन करते हैं। सम्यक्‌दर्शनशक्ति विशिष्ट ब्रह्म इस अर्थ में स्वरूपतः विभु अर्थात् व्यापक कहा गया है, और व्यष्टिदर्शन-शक्तिविशिष्ट जीवरूपी ब्रह्म को ईश्वर के अङ्गीभूत तथा सूक्ष्म अणुस्वभाव कह कर वर्णन किया है। जैसे तुम्हारी दर्शन-शक्ति, स्वरूपतः तुम्हारे व्यापक-चित्त के सूक्ष्म अंश होने पर भी, आकाशादि बृहत् पदार्थों के दर्शन करती है; (चित्त में जिस किसी बृहत् रूप की धारणा होती है, दर्शनशक्ति भी उसकी धारणा कर सकती है,) अतएव इस दर्शनशक्ति को गुण में

वृहत् कह सकते हैं; वैसे ही जीव स्वरूपतः अति सूक्ष्म अणु स्वभाव होने पर भी गुण में विभु हो सकता है।

विषयः—जीव के गुण में विभुत्व के दर्शन सदैव क्यों नहीं होते ?

शिष्य—जीव स्वरूपतः अणुवत् होने पर भी गुण में विभु है, इसका आशय अब मेरी समझ में आया; किन्तु मेरे तथा अन्य साधारण जीवों के गुण में तो विभुत्व के दर्शन नहीं होते। ऐसा क्यों प्रतीत होता है कि, हम लोगों की शक्तियाँ अति अल्प हैं।

गुरु—इस विषय को भी एक दृष्टान्त-द्वारा समझाता हूँ। तुम्हारी दर्शनेन्द्रिय के तुम्हारे देहस्थ चक्षु नामक यन्त्र की सहायता से बाह्य वस्तु समूह के रूप ग्रहणान्तर चित्त में अर्पण करने पर, उस रूप का तुम्हें बोध होता है। जब देह-पात होता है, तब उस देह के साथ दर्शन-शक्ति विलुप्त नहीं होती, मृत्यु के पश्चात् भी जीव की यह दर्शन-शक्ति वर्तमान रहती है। इस संबंध में शास्त्रीय तथा प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव नहीं है, इसे सभी भारतवासी जानते हैं; अतएव इसकी समालोचना करने की आवश्यकता नहीं। ऐसे दृष्टान्त भी प्रत्यक्ष हुए हैं कि, हिस्टीरिया रोगाक्रान्त किसी व्यक्ति की आँखें वस्त्र से ढाँक कर उसके पृष्ठभाग की ओर पढ़ने के लिए पुस्तक रक्खी गयी, और उसने उसे पढ़ लिया है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं है कि, चक्षुर्यन्त्र के अतिरिक्त

जीव की दर्शन शक्ति पृथक् रूप से भी वर्तमान है। किन्तु साधारणतः चक्षुर्यन्त्र के अवलम्बन-द्वारा ही जीव की दर्शन-शक्ति अपना कार्य्य साधित करती है; यदि चक्षु को पर्दा से ढाँक दो तो जीव और कुछ नहीं देख सकेगा। दर्शन-शक्ति का प्रकाश इस चक्षु की अवस्था के ऊपर ही निर्भर है। चक्षुर्यन्त्र के स्वस्थदशा में रहने पर भी बाहर उपयुक्त प्रकाश के न होने से दर्शन-कार्य्य में बाधा होती है, दर्शन भलीभाँति प्रकाशित नहीं होता। अतएव तुम्हारी दर्शन-शक्ति का प्रकाश तुम्हारी चक्षुरिन्द्रिय और बाह्यावस्था के ऊपर ही अधिकतर निर्भर है।

इसी प्रकार जीव में असंख्य शक्ति के रहने पर भी—जीव के गुण में विभु होने पर भी—बद्धावस्था में उसके समस्त गुण प्रकाशित नहीं हो सकते। जिस देह का अवलम्बन कर जीव कार्य्य-क्षेत्र में आविर्भूत होता है, उसकी अवस्था के ऊपर ही जीव के गुणसमूह का प्रकाश निर्भर है। एकादश इन्द्रिय और पंचतन्मात्रों से निर्मित उसका (जीव का) सूक्ष्म देह है; इस सूक्ष्म देह-द्वारा जीव स्थूल देह में अनु-प्रविष्ट होता है। इन उभय प्रकार के देहों के आवरण के कारण ही, उसका स्वभावगत शक्तिसमूह प्रकाशित नहीं हो सकता। देह में अनुप्रविष्ट होने के कारण उसमें आत्मबुद्धि उपजती है; और जीव विस्मृत हो जाता है कि, वह स्वयम् द्रष्टा-मात्र है; इसी कारण उसकी शक्तियों का स्फुरण नहीं होता है। साधनादि के अवलम्बन से जिस परिमाण तक उसका देह

निर्मल होता है और देहात्मबुद्धि क्षीण होती है, उसी परिमाण से उसके स्वरूप-गत शक्ति-समूह का विकास होता रहता है। उसकी देहात्मबुद्धि के सम्पूर्ण विलुप्त होने पर, इसी जन्म में वह ब्रह्म साक्षात्कार लाभ कर सकता है और देहान्त होने पर ब्रह्म में प्रतिष्ठित होकर सर्वविध सामर्थ्ययुक्त होता है। तब वह जो कुछ विशेष कार्य्य करने की इच्छा करता है उसे कर सकता है।

परन्तु आधुनिक-काल में साम्प्रदायिक नाना विध ग्रन्थों में इस चरमावस्था के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मत प्रकाशित हुए हैं।

भगवान् वेदव्यासजी ने इस सम्बन्ध में शास्त्रों के यथार्थ मर्म-विषयक सिद्धान्त-समूह का वर्णन ब्रह्मसूत्र में किया है; इसे मैं इस कारण नीचे संक्षेपतः उद्धृत करता हूँ कि, उन सब साम्प्रदायिक ग्रन्थों के पाठ से तुम्हारी बुद्धि संदिग्ध न हो जाय। इसके द्वारा तुम लोगों की बुद्धि दृढ़ता प्राप्त करेगी।

(१) इसी जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है।

वेदान्तदर्शन, तृतीय अध्याय, द्वितीय पाद, २४ सूत्रः—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥

(संराधनम् आराधनम् इत्यर्थः)

निम्बार्कभाष्य:—भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते "ब्रह्म-ज्ञान-प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान:," "भक्त्या त्वनन्यया शक्योऽहमेवंविधोऽर्ज्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्याम्।

अर्थ:—श्रुति और स्मृति में ऐसा वर्णित है कि, भक्ति-योग से आराधित होने पर ब्रह्म प्रकाशित होता है। श्रुति ने कहा है:—"ब्रह्मज्ञान-प्रसाद से जिसका चित्त विशुद्ध हुआ है, वह ध्यानपरायण होकर उसी पूर्ण ब्रह्म के दर्शन करता है।" स्मृति ने कहा है:—"हे परन्तप अर्ज्जुन! पराभक्ति द्वारा ही मैं तत्त्वों के साथ जाना जा सकता हूँ, और मेरे दर्शन भी हो सकते हैं, तथा मुझमें प्रविष्टि हो सकती है" इत्यादि। शांकरभाष्य में भी इस सूत्र का अर्थ इसी प्रकार व्याख्यात हुआ है। शङ्कर स्वामी ने कहा है "संराधनं भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम्" इत्यादि।

श्रीयुक्त केशव काश्मीरी भट्टजी कृत इस सूत्र की व्याख्या और भी स्पष्ट है:—

"संराधने सम्यक् भक्तियोगे ध्याने परं ब्रह्म व्यक्तं भवति प्रकाशते, ध्यानेन प्रीत: परमात्मा तस्मै मुमुक्षवे स्वयमात्मानं दर्शयतीत्यर्थ:। कुत: इदमवगम्यते? इत्यत आह प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुति-स्मृतिभ्यामित्यर्थ:।"

तृतीय अध्याय, द्वितीयपाद २५ सूत्र:—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं, प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥

भाष्य:—सूर्य्याग्न्यादीनां यथा तदर्थिकृतसाधनाभ्यासादाविर्भावस्तद्वद्ब्रह्मणोऽप्यवैशेष्यं ब्रह्मप्रकाशो भवति, संराधनलक्षणादुपायाद्ब्रह्मदर्शनं भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ:—जैसे सूर्य्य, अग्नि इत्यादि तत्तदुपयोगी साधन-द्वारा (दर्पण, काष्ठद्वयघर्षण इत्यादि द्वारा) आविर्भूत होते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी उपयुक्त साधन द्वारा प्रकाशित होता है, भक्तिपूर्वक उपासना रूप साधन-द्वारा ही ब्रह्म प्रत्यक्षो-भूत होता है ।

तृतीय अध्याय, द्वितीय पाद २६ सूत्र:—

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥

भाष्य:—ब्रह्म साक्षात्काराद्धेतोस्तेन सह साम्यं याति "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति ज्ञापकात् ।

अर्थ:—श्रुति ने ऐसा कहा है कि, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर उपासक उसी के साथ समता प्राप्त करता है, यथा:—जब उपासक उस उज्ज्वल सर्वकर्त्ता ईश्वर का दर्शन करता है, जो कि ब्रह्मादिक का उत्पत्तिस्थान है, तब पाप-पुण्य दोनों से

विनिर्मुक्त होकर वह अपापविद्ध होता है, और ब्रह्म के साथ साम्यलाभ करता है।"

तृतीय अध्याय, द्वितीय पाद २७ सूत्र:—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥

(उभयव्यपदेशात्-तु-अहिकुण्डलवत्)

भाष्य:—मूर्तामूर्तस्याप्रतिषेध्यत्वं दृढ़यति, मूर्त्तामूर्त्तादिकं विश्वं ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्नसंबंधेन स्थातुमर्हति, भेदाभेदव्यपदेशादहिकुण्डलवत् ।

अर्थ:—स्थूल और सूक्ष्मरूपी जगत् का ब्रह्म से अभिन्नत्व दृढ़ीभूत करने के निमित्त सूत्रकार ने कहा है:—स्थूल और सूक्ष्म विश्व स्वकारण ब्रह्म के साथ भिन्नाभिन्न सम्बन्ध में अवस्थित है; कारण, ब्रह्म के साथ भेद सम्बन्ध और अभेद सम्बन्ध—दोनों ही को श्रुति ने प्रकाशित किया है। जैसे सर्प के कुण्डलाकार रहने पर उसके अंगसमूह अप्रकाशित रहते हैं, प्रसारित होने पर फणलाङ्गूलादि अवयव प्रकाशित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म से जगत् प्रकाशित होता है और फिर उसी में लय-प्राप्त होता है। उभयविध श्रुति यथा:—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि भेदव्यपदेशः, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि अभेदव्यपदेशः ।

तृतीय अध्याय, द्वितीयपाद २८ सूत्रः—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥

(प्रकाश आश्रय, प्रकाश—तदाश्रययोः सम्बन्धवत् वा, तेजस्त्वात्)

भाष्यः—जीवपुरुषोत्तमयोरपि तथा सम्बन्धो ज्ञेयः । उभयव्यपदेशात् प्रभातद्वतोरिव । अतोऽनन्तेनेत्यनेन केवल भेदो न शङ्क्य इति भावः ।

अर्थः—जीव और परमेश्वर में भी ऐसा ही सम्बन्ध जानना चाहिये । भेद और अभेद (दोनों) के उसके सम्बन्ध में उक्त होने के कारण, जैसा प्रभा और प्रभाशील में सम्बन्ध है, वैसाही जीव और परमेश्वर में सम्बन्ध है; अतएव पूर्वोक्त "अतोऽनन्तेन" इत्यादि सूत्रों के द्वारा इनमें केवल भेद-सम्बन्ध रहना न समझना ।

वेदान्तदर्शन के ४ र्थ अ० द्वितीयपाद ७ म सूत्रः—

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ।

इस सूत्र के "अमृतत्वञ्चानुपोष्य" इस अंश का निम्बार्क-भाष्यः—"यत्तु यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्योऽमृतो भवती" ति विदुष इहैवामृतत्वं श्रूयते । तदेन्द्रियादिसम्बन्धमदग्ध्वैवोत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशलक्षणमुपपद्यते । अर्थात् जब सब प्रकार काम से विमुक्त होते हैं तब मर्त्य

जीव भी अमृतत्व प्राप्त करते हैं (कठ २ अ० ३ वल्ली) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में जो जीवितकाल में ही ब्रह्मज्ञानी पुरुषों की अमृतत्व-प्राप्ति वर्णित है, वह इन्द्रियादि के साथ सम्बन्ध दग्ध (विनष्ट) न होकर ही घटित होता है; इसका लक्षण पूर्वकृत पापपुण्य का विनाश, और उत्तरकालकृत पाप-पुण्य के साथ अलिप्तता है।

[इन सब सूत्रों के द्वारा श्रुतिसमूह के सारमर्म उद्‌घाटित कर भगवान् वेदव्यासजी ने सिद्धान्त ज्ञापित किया है कि, भक्तिपूर्वक उपासना-द्वारा इसी जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार लाभ हो सकता है। परन्तु जीव के स्वरूपतः ब्रह्म के अंश-मात्र होने के कारण, ब्रह्मदर्शन होने के पश्चात् भी उसके साथ जीव का भेदाभेद सम्बन्ध ही रहता है। किन्तु ऐसा न समझना चाहिये कि, भक्तिपूर्वक आराधना करने से सभी को इसी जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार होगा। वेदान्तदर्शन के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद के ५० सूत्र में उन्होंने कहा है:—

ऐहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे, तद्दर्शनात् ॥

(अप्रस्तुते प्रतिबन्धे—असति बाधके)

भाष्य:—असति प्रतिबन्धे ऐहिकं विद्याजन्म, तस्मिन् सत्यामुष्मिकं, "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामि" त्यादौ तद्दर्शनात्।

अर्थ:—प्रतिबन्ध के न होने पर, इसी जन्म में विद्या (ब्रह्मज्ञान)-लाभ हो सकता है; प्रतिबन्ध के होने पर, पर-जन्म में प्रतिबन्ध दूर होने के पश्चात् (ब्रह्मज्ञान) लाभ होता है। "यमराज-कथित विद्या प्राप्त कर नचिकेत: ने योग-सिद्धि प्राप्ति की थी और उन्होंने ब्रह्म को प्राप्त कर शोकातीत हो अमृ-तत्व लाभ किया था" इत्यादि वाक्यों से कठ और अपरापर श्रुतियों ने निर्देश किया है कि, इसी जन्म में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हो सकती है।

कठोपनिषदुक्त सम्पूर्ण श्रुतिवाक्य भाष्य में नहीं है, नीचे लिखा जाता है:—

"मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगसिद्धिं च कृत्स्नां ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः"

भजन करते करते नाना प्रकार की सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं और साधक का यश प्रकाशित होता रहता है। यदि साधक की दृष्टि उस पर आकर्षित हो जाय, तो वह और अग्रसर नहीं हो सकता; सिद्धि और यश में ही वह आबद्ध होकर रह जाता है। अतएव उसको ब्रह्मदर्शन नहीं होते। पूर्वोक्त सूत्र में कहा गया है कि, सिद्धिप्रभृति उसके प्रतिबन्ध रूप से वर्तमान रहती हैं।

(२) ब्रह्मदर्शन होने पर जीवित पुरुष पाप-पुण्य दोनों से विमुक्त होता है। केवल प्रारब्ध भोग रहता है, किन्तु वह उसमें निर्लिप्त रहता है।

वेदान्तदर्शन चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद १३ सूत्रः—

तदधिगमे, उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ, तद्व्यपदेशात् ।

भाष्यः—विदुष उत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः । कुतः ? "एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते", "अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति व्यपदेशात् ॥

अर्थः—ब्रह्मज्ञानसम्पन्न पुरुष का पूर्वकृत पापसमूह विनष्ट होता है, और पश्चात् कृत पापसमूह भी उसको लिप्त नहीं कर सकता। कारण यह है कि, छान्दोग्यश्रुति ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि, "इस प्रकार के ज्ञानी पुरुष को पाप कर्म लिप्त नहीं कर सकता," "तद् यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्ते," जैसे पद्म-पत्र में जल लिप्त नहीं होता तद्वत्" इत्यादि; "और जैसे अग्निसंयोग से तूलराशि दग्ध होती है, वैसे ही विद्वान् पुरुष की समस्त पातकराशि विनष्ट होती है," इत्यादि ।

वेदान्तदर्शन चतुर्थ अध्याय प्रथमपाद १४ सूत्रः—

इतरस्यापि एवमसंश्लेषः, पाते तु ॥

भाष्यः—पुण्यस्य काम्यकर्म्मणोऽपि अघवन्मुक्तिविरोधित्वा-दुत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाश एव । उत्तरपूर्वयोरश्लेषविनाशा-न्तरं देहपाते सति मुक्तिरेव ।

अर्थः—पाप की भाँति पुण्य भी मुक्ति का विरोधी है,

अतएव ज्ञानी पुरुष के पूर्वकृत पुण्य का विनाश होता है, और पश्चात् कृत पुण्य कर्म्म के साथ उसकी अलिप्तता घटित होती है। पूर्व और पश्चात् कृत पुण्य के विनाश और अश्लेष होने के कारण, देहान्त के पश्चात् उसके पाप और पुण्य उभय-विध कर्म विलुप्त होते हैं, और वह सम्यक्‌रूप से मुक्ति-लाभ करता है।

वेदान्तदर्शन चतुर्थ अध्याय प्रथमपाद १५ सूत्र:—

अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥

(तदवधेः—तस्य देहपातावधित्वोक्तत्वात्)

भाष्य:—विद्याप्राप्तौ पूर्वे पापपुण्ये ऽप्रवृत्तफले एव क्षीयेते। कुतः ? "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति शरीरपातावधिश्रवणात् ।

अर्थ:—किन्तु ब्रह्मज्ञान होने से पूर्वकृत पाप और पुण्य के विनाश का जो वर्णन हो चुका है, वह समस्त पाप-पुण्य के संबंध में नहीं है, जिन कर्मों ने फलदान करना आरम्भ नहीं किया है, (अर्थात् इस जन्मकृत संचित कर्म तथा अपरा-पार जन्म-कृत संचित कर्म, जो इस जन्म में फलोन्मुखी नहीं हुए हैं,) उनके संबंध में ही इस उक्ति को समझना चाहिए। जिस कर्म ने फल देना आरम्भ कर दिया है, ब्रह्मज्ञानलाभ

होने पर भी उसका क्षय नहीं होता, ऐसी उक्ति छान्दोग्य श्रुति में भी है, यथा:—"उसको (ब्रह्मज्ञानी को) तावत् पर्य्यन्त विलम्ब होता है यावत् पर्य्यन्त प्रारब्धकर्म-फल के भोग से विमुक्ति नहीं हो जाती, (देहान्तपर्य्यन्त प्रायः प्रारब्ध-कर्म-भोग रहता है, अतएव साधारणतः यावत् कालपर्य्यन्त देह-पात नहीं होता)। इस (देहान्त) के पश्चात् उसको ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है," इत्यादि। इन सब वाक्यों में श्रुति ने स्पष्टरूप से उपदेश किया है कि, शरीर-पतन की प्रतीक्षा करनी चाहिये। (पूर्व जन्मों के कर्म एकत्रित होकर, अपने अनुरूप भोग देने के कारण, इस जन्म का देह प्रस्तुत करते हैं। इस भोग के अन्त में देह का भी पतन होता है। यही शास्त्रों का उपदेश है। जिन सब कर्मों ने भोग-दान में प्रवृत्त होकर देह को प्रस्तुत किया है, इन्हीं को प्रारब्ध-कर्म कहते हैं। ब्रह्मवित् होने पर भी प्रारब्ध कर्म विनष्ट नहीं होते; इन्हीं के हेतु शरीर जीवित रहता है। सूत्र-कार ने श्रुति के आधार पर इस सूत्र-द्वारा यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।)

ब्रह्मज्ञ पुरुष के देहपतन के साथ प्राक्तन भोग भी समाप्त हो जाता है, और वह भी सर्वविध बन्धनों से विमुक्त होकर ब्रह्मरूपता प्राप्त करता है। यह सत्य है कि, यही साधारण नियम है; किन्तु किसी किसी स्थल में इसका व्यतिक्रम हो सकता है, भगवान् वेदव्यासजी ने वेदान्तदर्शन के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्तिम सूत्र में यही वर्णन किया है। यथा:—

मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५१ सूत्र ॥
(तदवस्थावधृतेः विद्वद्रूपावस्थस्य सम्पन्नविद्यास्य अनियतमुक्ति-फलत्वेन अवधृतेरित्यर्थः)

भाष्यः—तथा मुक्तिफलानियमः "तस्य तावदेव चिरम्" इति वचनात् ।

अर्थः—ऐसा भी नियम नहीं है कि, इस देह के पतन होने पर ही मुक्तिरूप-फल मिल ही जाय; कारण, छान्दोग्य श्रुति ने कहा है कि, "कर्म भोग से विमुक्त होने पर ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है ।" (जैसे प्रतिबन्ध के अभाव से, इसी जन्म में विद्या-लाभ होता है, प्रतिबन्ध रहने पर नहीं होता; अतएव विद्या-लाभ इसी जन्म में होगा, इसका कोई निश्चित नियम नहीं है; वैसे ही विद्या-प्राप्त व्यक्ति के संबंध में मुक्ति रूप विद्या-फल-लाभ भी देहान्त होने ही पर होगा ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है ।)

सम्पूर्ण ब्रह्मवित् होते हुए भी देहान्त होने पर भी परम मोक्ष लाभ न करने के एक दृष्टान्त वशिष्ठादि ऋषि हैं । ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में भगवान् वेदव्यासजी ने इसके कारण की व्याख्या की है । यथाः —

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकानाम् ॥ ३२ सूत्र ॥

भाष्यः—वशिष्ठादीनां त्वधिकारफलकर्मवशाद्यावदधिकार-मवस्थितिः ।

अर्थः—वशिष्ठादि ऋषियों ने वेदप्रवर्तनादि जिन जिन कर्मों के करने के अधिकारी होकर जन्म ग्रहण किया था, उन सब कर्मों के समाप्त न होने तक उनको स्थूल शरीर ही धारण करना पड़ा था। स्वीय आधिकारिक कर्मों के समाप्त न होने के पूर्व ही अभिशापवश वशिष्ठ ऋषि का देहपात हुआ था; उनके ब्रह्मज्ञ होने पर भी, देहान्त के पश्चात् उनको पुनः जन्म-ग्रहण करना पड़ा था; कारण, जिन कर्मों के सम्पादनार्थ उनका जन्म पहले हुआ था, उन कर्म्मों का सम्पादन सम्पूर्ण रूप से तब तक नहीं हुआ था। इसी प्रकार के प्रतिबन्ध होने पर, देहान्त होने से ही ब्रह्मज्ञ पुरुष को भी परम मोक्षलाभ नहीं होता। अतएव श्रुतिकार कहते हैं कि, मुक्तिलाभ का भी कोई निश्चित नियम नहीं है।

(३) देहान्त होने पर, सूक्ष्म देह का अवलम्बन कर ब्रह्मवित् पुरुष अर्चिरादि मार्ग में गमन कर, ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं और, तत्पश्चात् ब्रह्मरूपता प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मसूत्रान्तर्गत चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद में, ब्रह्म-वित् पुरुष किस भाँति से देहत्याग करते हैं और तदनन्तर वे किस स्थिति को प्राप्त होते हैं, इसका वर्णन करते समय भग-वान् वेदव्यासजी ने पहले ही कहा है कि, मृत्युकाल के उप-स्थित होने पर पहले वागिन्द्रिय मन में लीन होती है, तत्प-श्चात् अन्य समस्त इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, तत्पर मन प्राणों में लय-प्राप्त होता है; तत्पर प्राण जीवात्मा के साथ

मिल जाते हैं। तत्पश्चात् जीवसंयुक्त प्राण तेज:प्रधान सूक्ष्म-भूतमयत्व प्राप्त होते हैं (अर्थात्, देह का बीजभूत, भूतसूक्ष्म समूह का आश्रय ग्रहण करता है)।

यहाँ तक ब्रह्मवित् और अब्रह्मवित् पुरुषों की गति एकही प्रकार की है। इसके पश्चात् दोनों की गति विभिन्न प्रकार की होती है, देहान्त के पश्चात् ब्रह्मवित् और अब्रह्मवित् पुरुषों की गति की विभिन्नता का वेदव्यासजी ने निम्नरूप से वर्णन किया है। यथा:—

चतुर्थ अध्याय, द्वितीय पाद ७ सूत्र:—

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ॥

(आसृत्युपक्रमात् विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिः समानैव। सृतिर्गतिरर्च्चिरादिका, तस्य उपक्रमो नाड़ी-प्रवेश-लक्षणः, तस्मात् प्रागित्यर्थः। अमृतत्वमनुपोष्य देहसंबन्धमदग्ध्वैव सम्भवति, अतएव मुक्तस्यापि गतिविषये न कश्चित् विरोधः)

भाष्य:—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमापन्नमृतत्वमेति विश्वगण्या, उत्क्रमणे भवन्ती" 'ति नाड़ीविशेषेण विदुषोऽप्युत्क्रम्य गतिः श्रूयते। एवं सति विदुषो नाड़ी-प्रवेश-लक्षण-गत्युपक्रमात् प्रागुत्क्रान्तिः समानैव। यत्तु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्त्योऽमृतो भवती" 'ति विदुषः इहैवामृतत्वं श्रूयते।

तदेन्द्रियादि—संबंधमदग्ध्वैवोत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशलक्षणमुपपद्यते ।

अर्थः—"हृत्पुण्डरीक में एकाधिक एक शत नाड़ी हैं, उनमें मस्तक की ओर एक गई है, उस नाड़ी के द्वारा उत्क्रमण-काल में ऊर्द्ध्व दिशा में जाकर (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करता है और अमृतत्व लाभ करता है ।"—इत्यादि वाक्यों से श्रुति ने ब्रह्मज्ञानी की नाड़ी विशेष-द्वारा गति का वर्णन किया है । अतएव नाड़ी-प्रवेश-लक्षण गति की प्राप्ति के पूर्व्व पर्य्यन्त, ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों की गतिप्रणाली जो कि पूर्व के सूत्रों में वर्णित हैं (अर्थात् इन्द्रियादि का मुख्य प्राण में लय, तत्पश्चात् मुख्य प्राण का तेजःप्रधान भूतग्राम में लय), वे दोनों समान रूप की हैं । कारण यह है कि, जब सर्वविध हृदिस्थित काम से विमुक्त होता है, तब मर्त्य व्यक्ति भी अमृतत्व प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में ब्रह्मज्ञानी पुरुष के जीवित-काल ही में अमृतत्व लाभ करने का वर्णन किया गया है । देह सम्बन्ध रहने के कारण, उस समय इन्द्रियादि के साथ का सम्बन्ध दग्धीभूत न होने पर भी, पूर्व्वकृत पाप-पुण्य का विनाश और उत्तरकाल-कृत पाप-पुण्य के साथ अलिप्तता उपजती है । अतएव अमृतत्व प्राप्त करने पर भी, देहान्त-काल उपस्थित होने पर जीवन्मुक्त पुरुषों की भी इन्द्रियादि संयुक्त होकर ही सूक्ष्म देहावलम्बन से उत्क्रान्ति (देह से गमन) सम्पादित होती है । (इसमें किसी दोष की आशंका नहीं है ।)

जब ब्रह्मवित् पुरुष नाड़ी-विशेष-द्वारा मस्तिष्क भेद कर देह परित्याग करते हैं, तब उनका सूक्ष्म देह भी उनका अनुसरण करता है।

वेदान्त-दर्शन चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद ९ सूत्रः—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥

भाष्यः—सूक्ष्मं शरीरमनुवर्तते "विदुषस्तं प्रतिब्रूयात्, सत्यं ब्रूयात्" इति प्रमाणतस्तद्भावोपलब्धेः।

अर्थः—स्थूलदेह के विनष्ट होने के पश्चात् ज्ञानी पुरुष का सूक्ष्म शरीर रहता है, कारण, श्रुति प्रमाण द्वारा यही बोधगम्य होता है। यथा, देवयान पथ में (अर्च्चिरादि पथ में) गमनकारी ज्ञानी पुरुष और चन्द्रमा के कथनोपकथन का श्रुति ने जो वर्णन किया है वह सूक्ष्म शरीर के न रहने पर सम्भव नहीं हो सकता। संवादबोधक श्रुतिवाक्यः—"विदुषस्तं प्रतिब्रूयात्" (विद्वान् पुरुष चन्द्रमा को प्रत्युत्तर देता है) इत्यादि।

सूक्ष्मदेह अवलम्बन कर ब्रह्मज्ञ पुरुष शरीर से उत्क्रान्त होकर अर्च्चिरादि मार्ग में जाते हैं। छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तथा कौषितकी उपनिषदों में उक्त श्रुति-वाक्यसमूह पर निर्भर कर वेदान्तदर्शन के चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद के अन्त में तथा तृतीय पाद में वेदव्यासजी ने ब्रह्मज्ञ-पुरुष के गमन का इस भाँति वर्णन किया है, यथाः—

विद्वान् पुरुष मूर्द्धन्य नाड़ी-द्वारा निष्क्रान्त होकर ऊपर की ओर जाते हैं (४ अ० २ पाद, १७ सूत्र);

उनके मृत्यु-सम्बन्ध में उत्तरायण अथवा दक्षिणायन, दिवा अथवा रात्रि, काल का कोई विचार नहीं है (१८,१९ सूत्र)। अतःपर विद्वान् पुरुष अर्च्चिरादि मार्ग में गमन करते हैं। वे पहिले अर्च्चि (अग्निदेव) को प्राप्त होते हैं; अर्च्चि के पश्चात् अहरभिमानी देवता को, इसी क्रम से, शुक्ल पक्षाभिमानी, उत्तरायण षण्मासाभिमानी, संवत्सराभिमानी वायु, आदित्याभिमानी, चन्द्रमस्-अभिमानी, विद्युत्-अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं; तत्पश्चात् क्रमशः वरुणलोक, इन्द्र-लोक और प्रजापतिलोक को प्राप्त होते हैं।

वरुणादि उनके सङ्गी (साथी) होकर उनका उपकार करते हैं। तत्पश्चात् वे ब्रह्म-लोक प्राप्त करते हैं। अमानव पुरुष उनको ब्रह्मप्राप्ति कराते हैं। (तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति।) जो लोग प्रतीकावलम्बन न कर परब्रह्म की उपासना करते हैं, उन्हीं को (अमानवपुरुष) पर-ब्रह्म-प्राप्ति कराते हैं; हिरण्यगर्भ-उपासक को हिरण्यगर्भ की प्राप्ति कराते हैं, पश्चात् हिरण्यगर्भ के साथ वे भी परब्रह्म में लीन होते हैं।

वेदान्तदर्शन चतुर्थ अध्याय तृतीय पाद १४ सूत्रः—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च।

भाष्य:—अर्च्चिरादिगण: प्रतीकालम्बन-व्यतिरिक्तान् पर-ब्रह्मोपासकान् ब्रह्मात्मकतयाऽक्षरस्वरूपोपासकांश्च परब्रह्म नयति । कुत: ? उभयथा दोषात् । कार्य्योपासकान्नयतीत्यत्र "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्ये" त्यादि श्रुति-व्याकोप: स्यात् । परोपासीनानेव नयतीति नियमे तु "तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्च्चिषमभि-सम्भवन्ती" ति श्रुतिव्याकोप: स्यात् । "तस्माद् यथा क्रतुरस्मिँ-ल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवती" त्यादि श्रुतेस्तत् क्रतुस्त-थैव प्राप्नोतीति सिद्धान्तो भगवान् वादरायणो मन्यते ।

अर्थ:—पूर्वोक्त विषय में महर्षि वादरायण की मीमांसा यह है कि, जो लोग केवल प्रतीकावलम्बन-द्वारा उपासना करते हैं (अर्थात् जो लोग ब्रह्मभाव से केवल नाम मन इत्यादि का उपास्यस्वरूप में भजन करते हैं 'ये नाम ब्रह्मेत्युपासते' इत्यादि श्रुत्युक्त नामादिक प्रतीका की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करते हैं) उनको छोड़ कर परब्रह्मोपासकों को और जो लोग अपने को ब्रह्मस्वरूप धारणा कर अक्षरात्मा की उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकार के उपासकों को अर्च्चिरादि आतिवाहिक देवतागण परब्रह्म-प्राप्ति कराते हैं, कार्य्य-ब्रह्म को नहीं। कारण, पूर्वोक्त दोनों (वादरिकृत तथा जैमिनिकृत) मीमांसाओं में दोष है; यदि ऐसी मीमांसा की जाय कि, कार्य्य-ब्रह्मोपासकों को ही, अर्च्चिरादि देवगण लेकर कार्य्यब्रह्म की प्राप्ति कराते हैं (जो लोग परब्रह्म की उपासना

करते हैं, उनका किसी लोक में गमन नहीं है और न उन्हें कोई ले जाता है), ऐसा हो तो "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य" (इस शरीर से उत्थित होकर परमात्मा को प्राप्त हो स्वीय चिन्मयरूप में प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्यों के साथ विरोध उत्पन्न होता है। और यदि ऐसी मीमांसा की जाय कि, केवल परब्रह्मोपासक को ही अर्च्चिरादि देवगण ले जाते हैं, तो "तद् य इत्थं विदुर्य्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्च्चिषमभिसम्भवन्ति" (जो लोग यह जानते हैं, और जो लोग अरण्य में तपस्यारूप श्रद्धा की उपासना करते हैं, वे अर्च्चिरादिगति को प्राप्त होते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में पञ्चाग्नि-उपासकों के लिए अर्च्चिरादि-गति के उपदेश कराने से उक्त श्रुतिवाक्यसमूह ऐसी मीमांसा का विरोधभाव उत्पन्न कराता है। श्रुति ने कहा है:—"अतएव पुरुष इस लोक में यद्रूप क्रतु (उपासना) विशिष्ट होते हैं, यह लोक परित्याग कर तद्रूपता ही को प्राप्त होते हैं।" इसी भाँति अन्यान्य श्रुतियाँ भी हैं। तद्द्वारा यह सिद्ध होता है कि, जो पुरुष यद्रूप क्रतु (उपासना) सम्पन्न होते हैं, वे तद्रूप ही स्वरूप को प्राप्त होते हैं। श्रीवादरायण वेदव्यास का यही सिद्धान्त है। (किन्तु जिन लोगों को अर्च्चिरादि मार्ग प्राप्त होता है, उनको इस मर्त्यलोक में पुनः आगमन नहीं करना होता।)

वेदान्तदर्शन ४ अ० ३ पा० १५ सूत्र:—

विशेषं च, दर्शयति ॥

भाष्य:—"यावन्नाम्नोगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवती" त्यादिका श्रुतिः प्रतीकोपासकस्य गत्यनपेक्षं फलविशेषं च दर्शयति ।

अर्थ:—केवल नामादिक प्रतीकोपासकों के संबन्ध में परब्रह्म-प्राप्ति की गति का उल्लेख न कर श्रुति ने उन लोगों के लिए दूसरे फलविशेष का प्रदर्शन किया है; यथा:—"यावन्नाम्नो-गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति, वाग्वाव नाम्नो भूयसी, यावद्वाचोगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति, मनो वाव वाचो भूयः इत्यादि (नाम-ध्याता नाम की गति जहाँ तक है, वहाँ तक प्राप्त होता है, तब उसके अनुसार उसकी काम-चारिता उपजती है; वाक् नाम की अपेक्षा श्रेष्ठ है, उसका उपासक उसे प्राप्त हो तदनुरूप कामचारी होता है, मन वाक् की अपेक्षा श्रेष्ठ है, उसका उपासक तद्रूपत्व प्राप्त हो उसी के अनुसार काम-चारी होता है) । इस कारण प्रतीकोपासक को छोड़कर दूसरों की परब्रह्म प्राप्ति कही गई है ।

(४) ब्रह्मज्ञ पुरुष अर्च्चिरादि मार्ग में गमन के पश्चात् परब्रह्म को प्राप्त हो सर्वविध बन्धन से विमुक्त सत्यसंकल्प-त्वादि गुण विशिष्ट स्वीय चिद्रूप प्राप्त करते हैं । वे तब स्वराट् होते हैं (जैसी इच्छा हो वैसा कर सकते हैं) । केवल सम्यक् जागतिक सृष्ट्यादि व्यापार साधित नहीं कर सकते हैं, अन्य सर्वविध शक्तियों को प्राप्त हो आनन्दमय होते हैं; उनके सूक्ष्म देह के अवयव समूह को ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है ।

वेदान्तदर्शनान्तर्गत चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पादस्थ श्रुतिवाक्य-समूह के विचार-द्वारा भगवान् वेदव्यासजी ने मुक्त पुरुषों की वैसी अवस्था का वर्णन किया है।

४ अ०, २ पा०, १४ सूत्रः—तानि परे तथा ह्याह।

भाष्यः—तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्माणि परस्मिन् संपद्यन्ते।

"तेजः परस्यां देवतायाम्" इत्याह श्रुतिः।

अर्थः—तेज आदि भूत-सूक्ष्म-समूह भी परब्रह्मरूपता प्राप्त करता है। 'तेज को परमात्मा की समता प्राप्त होती है, यह श्रुति ने ही कहा है।

४ अ०, २ पा०, १५ सूत्रः—अविभागो वचनात्।

भाष्यः—तेषां वागादिभूतसूक्ष्माणां परे ऽविभागस्तादात्म्यापत्तिः, भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते" इति वचनात्॥

अर्थः—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़शकलाः पुरुधारणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" [अर्थात्—नदीसमूह जिस भाँति समुद्र में प्रविष्ट होता है, उसी भाँति इस ब्रह्मदर्शी पुरुष की षोड़श कलायें (एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चभूत-सूक्ष्म) परम पुरुष को पाकर अस्तगत (उसी में लीन) होती हैं] इत्यादि वाक्यों से पहले वागादि भूतसूक्ष्मपर्य्यन्त कलासमूह की ब्रह्मरूपताप्राप्ति का वर्णन कर श्रुति ने कहा है "भिद्यते चासां

नाम-रूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते" (अर्थात्—उन कलासमूहों के नाम और रूप मिट जाते हैं, तब उनको 'पुरुष' मात्र कहते हैं); इन सब उक्तियों के द्वारा वागादि भूतसूक्ष्म कलासमूह का ब्रह्म से अभिन्नत्व और उनकी तदात्मता-प्राप्ति प्रतिपादित होती है। सूत्रोक्त "अविभाग" शब्द का अर्थ विनाश नहीं, ब्रह्मात्मताप्राप्ति है। वास्तव में कोई वस्तु सम्पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं होती, सभी ब्रह्म के अंशरूप में नित्य अवस्थित हैं।

४ अ०, ४ प०, १ सूत्रः—सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।

भाष्यः—जीवोऽर्च्चिरादिकेन मार्गेण परं सम्पद्य स्वाभाविकेन रूपेणाविर्भवतीति—"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इतिवाक्येन प्रतिपाद्यते, स्वेनेति शब्दात्।

अर्थः—अर्च्चिरादिमार्ग में जाने के पश्चात परब्रह्म को प्राप्त कर जीव स्वीय स्वाभाविक रूप प्राप्त करता है; अर्थात् उसको देव कलेवर अथवा अन्य कोई विशेष-धर्म्म-विशिष्ट कलेवर की प्राप्ति नहीं होती। श्रुति ने जो "स्वेन" (अपना) शब्द का व्यवहार किया है—उसके द्वारा ऐसा ही निश्चित होता है। श्रुति, यथाः—एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते" (छान्दोग्ये प्रजापतिवाक्य)। इस संसार-दुःख से विमुक्त तथा सम्प्रसाद-प्राप्त पुरुष इस शरीर से सम्यक् उत्थित हो परमज्योति को

प्राप्त होता है—सर्वप्रकाशक ब्रह्म को प्राप्त होता है, और स्वीय स्वाभाविक विशुद्धरूप में आविर्भूत होता है ।)

२ सूत्र—मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥

भाष्यः—बन्धाद्विमुक्त एवात्र स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्युच्यते । कुतः ? "य आत्मा अपहतपाप्मे"—त्युपक्रम्य "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामी"ति प्रतिज्ञानात् ।

अर्थः—पूर्वोक्त छान्दोग्य श्रुति में जो "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (स्वीय स्वाभाविकरूपसम्पन्न होता है) कहा गया है, इसका आशय यह है कि, सर्वविध बन्धन से मुक्त होता है। यह उक्त श्रुति के प्रतिज्ञा-वाक्य के द्वारा स्थिरीकृत होता है। श्रुति ने पहले आख्यायिका के उपक्रम में कहा है कि, "य आत्मा अपहतपाप्मा" (आत्मा निष्पाप, निर्मल है), इस उपक्रमवाक्य में आत्मा के स्वाभाविक मुक्तस्वरूप को वर्णन कर तत्पश्चात् "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" (पुनः तुमसे इस आत्मा की कथा वर्णन करता हूँ), ऐसी प्रतिज्ञा कर फिर आख्यायिका के अन्त में उक्त "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इस वाक्य के द्वारा आख्यायिका को समाप्त किया है ।

३ सू०:—आत्मा प्रकरणात् ॥

भाष्यः—आत्मैवाविर्भूतरूपस्तत् प्रकरणात् ।

अर्थः—पूर्वोक्त "परं ज्योतिरुपसंपद्य" इत्यादि वाक्यों में

जो "ज्योतिः" शब्द प्रयुक्त है, वह आत्माबोधक है; कारण, उक्त प्रकरण में आत्मा ही वर्णित है। (इस स्थल में ज्योतिः-शब्द से तेजः पदार्थ का अर्थ न समझना; जिस भाँति तेज बाह्यरूप समूह को दृष्टिगोचर कराता है, उसी भाँति चिच्छक्ति-द्वारा ब्रह्म जगत् को प्रकाशित करता है; ब्रह्म स्वप्रकाश है; इस निमित्त श्रुति ने ज्योतिःशब्द-द्वारा उसकी व्याख्या की है ॥

४ सूत्रः—अविभागेन दृष्टत्वात् ॥

भाष्यः—मुक्तः परस्मादात्मानं भागाविरोधिना अविभागेनानुभवति। तत्त्वस्य तदानीमपरोक्षतो दृष्टत्वात्, शास्त्रस्याप्येवं दृष्टत्वात्।

अर्थः—मुक्त पुरुष अपने को परमात्मा से अभिन्नरूप से अनुभव करते हैं, कारण, उस समय उनको सभी का परमात्मस्वरूप में दर्शन होता है; "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों ने भी ऐसे ही उपदेश किया है।

इसके पश्चात् पंचम सूत्र में कहा गया है कि, जैमिनि के मत से मुक्तावस्था में जीव अपहतपाप्मत्व सत्यसंकल्पत्वादि ब्रह्मगुणविशिष्ट होकर आविर्भूत होते हैं। षष्ठ सूत्र में उक्त है कि, औडुलोमी के मत से जीव केवल चिद्रूप में आविर्भूत होते हैं (सत्य-संकल्पत्वादि गुण नहीं रहते)। इन दोनों

पक्ष के सम्बन्ध में भगवान् वेदव्यासजी ने अपना सिद्धान्त निम्नलिखित रूप से प्रकाशित किया है।

७ सूत्रः—एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः॥

(पूर्वभावात्="पूर्वोक्तादपहतपाप्मत्वादिगुणसम्पन्नविज्ञान-स्वरूप-प्रत्यगात्माविर्भावात्)

भाष्यः—विज्ञानमात्रस्वरूपत्वप्रतिपादने सत्यपि अपहत-पाप्मत्वादिमद्विज्ञानस्वरूपाविर्भावादविरोधं भगवान् वादरा-यणो मन्यते। कुतः? मुक्तजीव-सम्बन्धितया अपहतपाप्मत्वा-द्युपन्यासात्।

अर्थः—यद्यपि यह सत्य है कि, मुक्त आत्मा विज्ञान-मात्र स्वरूप प्राप्त होता है; तथापि भगवान् वादरायण वेदव्यास का सिद्धान्त यह है कि, उसका वह विज्ञानस्वरूप अपहत-पाप्मत्वादि गुणविशिष्ट है; कारण, मुक्त जीव सम्बन्ध में अप-हत-पाप्मत्वादि गुण को श्रुति ने पूर्वोक्त वर्णित वाक्य में जो प्रदर्शित किया है, उसका कहीं भी प्रतिवाद नहीं हुआ है।

८ सूत्रः—संकल्पादेव तच्छ्रुतेः॥

भाष्यः—मुक्तस्य संकल्पादेव पित्रादिप्राप्तेः। कुतः? "स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठंति" इति तदभिधानश्रुतेः।

अर्थः—सत्यसंकल्पत्वादि गुण जो मुक्त पुरुषों के होते

हैं, इसका प्रमाण यह है कि, श्रुति ने कहा है कि मुक्त पुरुषों के संकल्पमात्र ही से उनके समीप पितृ आदि का आगमन होता है। यथा छान्दोग्य दहर-विद्या में उक्त है, "वे यदि पितृ-लोक दर्शन की इच्छा करें, तो उनके संकल्प-मात्र से पितृ-गण आ जाते हैं।

६ सूत्रः—अतएवानन्याधिपतिः ॥

भाष्यः—परब्रह्मात्मको मुक्त आविर्भूतसत्यसंकल्पत्वादेवानन्याधिपतिर्भवति, "स स्वराड्भवति" इति श्रुतेः।

अर्थः—परब्रह्मात्मक होकर, सत्यसंकल्पत्वगुणविशिष्ट होने के कारण, मुक्त पुरुष संपूर्ण अनन्याधिपति अर्थात् सम्पूर्ण स्वाधीन होते हैं; अन्य कोई उनका अधिपति नहीं होता, (वे फिर गुणाधीन नहीं रहते)। कारण, श्रुति ने कहा है "वे स्वराट् होते हैं"।

१२—सूत्रः—द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥

भाष्यः—संकल्पादेव शरीरत्वमशरीरत्वं च मुक्तस्य भगवान् वादरायणो मन्यते। द्वादशाहस्य यथा "द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः," "द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदि" ति सत्रत्वमहीनत्वं च भवति, तद्वत्।

अर्थः—भगवान् वादरायण (वेदव्यास) जी ने इस प्रकार की मीमांसा की है कि, मुक्तपुरुष अपने संकल्प के अनुसार

कभी सशरीर और कभी अशरीर होते हैं; जैसे पूर्वमीमांसा में "द्वादशाह" (द्वादश दिनव्यापी एक यज्ञ) सम्बन्ध में इस प्रकार मीमांसित है कि, "द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयु:" वाक्य में श्रुति ने "उपेयु:" पद का प्रयोग कर उस यज्ञ का "सत्रत्व" प्रदर्शित किया है, पुनः "द्वादशाहेन प्रजाकामं-याजयेत्" वाक्य में "याजयेत्" पद का प्रयोग कर उसी यज्ञ का अहीनत्व स्थापित किया है; अतएव "द्वादशाह" यज्ञ की "सत्रत्व" तथा "अहीनत्व" उभयरूपता ही सिद्ध है; वैसे ही मुक्त-पुरुष के सम्बन्ध में श्रुति के "सशरीरत्व" तथा "अशरी-रत्व" उभय प्रकार के उपदेश स्थापित करने के कारण मुक्त पुरुष का भी उभयरूपत्व सिद्ध होता है। (जो यज्ञ "उपयन्ति" और "आसते" इन दोनों क्रियापद द्वारा उपदिष्ट हुआ है और जो बहु कर्त्ता-द्वारा निष्पाद्य है, उसी को सत्र कहते हैं; और जिस यज्ञ के सम्बन्ध में श्रुति में यज् धातु के पद का प्रयोग है उसे "अहीन" कहते हैं।)

१३—सूत्र:—तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥

भाष्य:—स्वसृष्टशरीराद्यभावे स्वप्नवद्भगवत्सृष्टशरीरादिना मुक्तभोगोपपत्तेः शरीरादेर्मुक्तसृज्यत्वानियमः ॥

अर्थ:—स्वसृष्ट शरीरादि के अभाव पर भी, स्वप्नकाल में बद्ध जीव का जो भोग है, उसी भाँति, भगवत्सृष्ट शरीरादि समन्वित होकर, मुक्त पुरुषों का भोग उत्पन्न होता है; अतएव

ऐसा भी नियम नहीं है कि, मुक्तपुरुषकर्तृक ही उसके शरीरादि सृष्ट हों।

१४—सूत्रः—भावे जाग्रद्वत् ॥

भाष्यः—स्वसृष्टशरीरादिभावेऽपि मुक्तस्य भगवल्लीलारस-भोगोपपत्तेः कदाचिद् भगवल्लीलानुसारिणा स्वसङ्कल्पेनापि सृजति।

अर्थः—निजकर्तृकसृष्ट शरीरादिविशिष्ट होते हुए भी मुक्तपुरुष भगवल्लीलारस भोग कर सकते हैं; कभी कभी मुक्त-पुरुष भगवल्लीला का अनुसरण कर जाग्रत् पुरुषों की भाँति स्वयं ही संकल्पपूर्व्वक शरीरादि सृष्ट किया करते हैं।

मुक्त पुरुषों की ये सब शक्तियाँ प्रकाशित हैं, एवं वे स्वराट् होते हैं, यह सत्य है। परन्तु जीव स्वरूपतः ब्रह्म के अंश हैं। अतएव मुक्तावस्था में भी वे अंश ही रहते हैं। वे अपने को और जगत् को भी ब्रह्म-रूप में दर्शन करते हैं यह सत्य है; कारण ब्रह्म से भिन्न उनमें अथवा जगत् में कुछ नहीं है। परन्तु ब्रह्म अंशी है, सुतरां वह अंश से अधिक (बड़ा) है। मैंने पहिले ही कहा है कि, जीव व्यष्टिद्रष्टा हैं, समग्रद्रष्टा नहीं। अतएव मुक्तावस्था में भी सम्यक् जगत् के प्रकाशादि व्यापार को साधन करने की उनमें सामर्थ्य नहीं होती। भगवान् वेदव्यास ने यही प्रदर्शित किया है। यथाः—

ब्रह्मसूत्र ४ र्थ अ० ४ र्थ पाद १७ सूत्रः—

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥

भाष्यः—जगत्सृष्ट्यादिव्यापारेतरं मुक्तैश्वर्य्यम् । कुतः ? "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादौ, परब्रह्मप्रकरणान्मुक्तस्य तत्रासन्निहितत्वाच्च ।

अर्थः—जगत्-सृष्ट्यादि व्यापार को छोड़ मुक्त पुरुषों को अपर सर्वविध ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है। कारण "ये समस्त भूतग्राम जिससे सृष्टि-प्राप्त होते हैं" इत्यादि सृष्टिप्रकरणोक्त श्रुतिवाक्यों में उक्ति है कि, परब्रह्म ही जगत् का स्रष्टा है; उक्त प्रकरण में परब्रह्म ही स्रष्टा कहा गया है (उक्त प्रकरण मुक्त पुरुषों का संबंधविषयक नहीं है); और श्रुति ने ऐसा कहीं भी उपदेश नहीं किया है कि, मुक्त पुरुषों में जगत्-सृष्टि की सामर्थ्य है ।

परन्तु जगद्व्यापार साधन की सामर्थ्य न होने पर भी, मुक्त पुरुष की ब्रह्म से अभिन्न भाव और अभिन्न बुद्धि में अवस्थिति है ।

४ र्थ अध्याय ४ र्थ पाद १९ सूत्रः—

विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥

[विकारं जन्मादिषट्कं न आवर्त्तते इति विकारावर्ति जन्मादिविकारशून्यं; च शब्दोऽवधारणे । तथाहि मुक्तस्थितिमाह श्रुतिरित्यर्थः]

भाष्यः—जन्मादिविकारशून्यं स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तगुण-सागरं सविभूतिकं ब्रह्मैव मुक्तोऽनुभवति । तथाहि मुक्ति-स्थितिमाह श्रुतिः "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये अनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति," "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दोभवति" इत्यादिका ।

अर्थः—मुक्त पुरुषगण (जगद्व्यापार-सामर्थ्य लाभ न करते हुए भी) जन्मादि विकार-शून्य हैं, वे स्वाभाविक अचिन्त्य अनन्त-गुण-सागर सर्वविभूतिसम्पन्न ब्रह्म के स्वरूप में अपने को अनुभव करते हैं । मुक्त पुरुषों की स्थिति का श्रुति ने इसी प्रकार से उपदेश किया है; यथा तैत्तिरीय श्रुति ने मुक्ता-वस्था के संबंध में कहा है—"जब ये जीव इस अदृश्य देहादि-विवर्जित, अक्षर, स्वप्रतिष्ठ परब्रह्म में सुप्रतिष्ठित होते हैं, और इस कारण सर्वविध भय से मुक्त होते हैं, तब वे उसी अभय ब्रह्मरूपत्व को प्राप्त होते हैं," "वह रसस्वरूप है; यह जीव भी उस रसस्वरूप को प्राप्त कर स्वयं आनन्दरूपता प्राप्त करता है ।" इत्यादि ।

४ र्थ अध्याय ४ र्थ पाद, २१ सूत्रः—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥

भाष्यः—"सोऽश्नुते सर्व्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते" ति भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च मुक्तैश्वर्य्यं जगद्व्यापार-वर्ज्जम् ।

अर्थः—"मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ सर्वविध भोग (आनन्द) की उपलब्धि करते हैं।" इस स्पष्ट श्रुतिवाक्य से ईश्वर के साथ मुक्त पुरुष की केवल भोग विषय में ही समता प्रदर्शित की गई है, सामर्थ्य की समता प्रदर्शित नहीं की गई है। अतएव इसके द्वारा भी मुक्त पुरुषों की जगत्-सृष्ट्यादि व्यापार में सामर्थ्य न रहना (और पूर्ण ब्रह्मता प्राप्त न कर उस अवस्था में भी ब्रह्म के अंशरूप से रहना) सिद्ध होता है।

४ र्थ अ०, ४ र्थ पा०, २२ सूत्रः—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥

भाष्यः—परं ज्योतिरूपसम्पन्नस्य संसाराद्विमुक्तस्य प्रत्यगात्मनः पुनरावृत्तिर्न भवति। कुतः ? "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त नावर्त्तन्ते," "मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" इति शब्दात्।

अर्थः—परम ज्योतिःस्वरूपप्राप्त तथा संसार से विमुक्त जीव की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती। कारण, श्रुति ने कहा है:—"जो लोग देवयानमार्ग में पहुँचे हैं उनको इस मर्त्यलोक में पुनरागमन नहीं करना पड़ता।" श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीभगवान् ने कहा है, "हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त कर लेने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता।"

मैंने जीव के स्वरूप, प्रभाव और गति विषय में शास्त्रीय सिद्धान्तसमूह का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। अब तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया जायगा।

सर्वत्र शास्त्रों में वर्णित है कि, विमुक्त जीवों की अपरिसीम शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। बद्धावस्था में इन सब शक्तियों का प्रकाश नहीं हो सकता, परन्तु तपस्या और भजन के द्वारा जैसे-जैसे देह निर्मल होता जाता है वैसे ही वैसे जीव नानाविध शक्ति प्राप्त करता रहता है। पूर्ण मोक्षावस्था में जो सब शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं, प्रायः वैसी ही शक्तियाँ ब्रह्मज्ञ जीवित पुरुष के भी आयत्ताधीन होती हैं। ब्रह्मज्ञ होने के पूर्व भी जो साधकों को नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ मिलती हैं, उसके अनेकानेक दृष्टान्त शास्त्रों में वर्णित हैं। यथा:—महाभारत के अनुशासनपर्व के ५० । ५१ अध्यायों में च्यवन ऋषि के विषय में उल्लिखित है कि, प्रयागस्थ गङ्गा-यमुना-संगम के सलिल में रह कर उन्होंने कई वर्ष तक तपस्या की है। तत्पश्चात् मत्स्य के हेतु जब केवटों ने वहाँ जाल डाला तब अनेक मत्स्यों के साथ च्यवन ऋषि भी जाल में आबद्ध होकर बाहर निकाले गये, फिर उनकी अनुमति से जब राजा नहुष ने केवटों को गोदान देकर मत्स्यों के साथ उन्हें मुक्त कर दिया था, तो उन्होंने इन समस्त मत्स्यों एवं धीवरों को राजा नहुष और समस्त दर्शक मंडली के समक्ष सशरीर स्वर्गधाम को प्रेषित किया था।

विष्णु-पुराण के चतुर्थ अंश के द्वितीय अध्याय में सौभरि ऋषि के विषय में ऐसा उल्लिखित है कि, उन्होंने मान्धाता नृपति की पञ्चाशत् कन्याओं से विवाह कर योगबल से उनके निमित्त पञ्चाशत् पृथक् पृथक् सुरम्य भवन प्रस्तुत किये; और स्वयं एक ही समय में पञ्चाशत् पृथक्-पृथक् मूर्तियाँ धारण कर उन पञ्चाशत् पत्नियों के साथ पृथक्-पृथक् वासस्थान में बहु-वर्षपर्य्यन्त युगपत् वास तथा विहारादि किये। श्रीमद्भाग-वत के तृतीय स्कन्ध में कपिलदेव के पिता कर्दम ऋषि के संबंध में वर्णित है कि, योग-बल के द्वारा दास-दासी तथा पशु-पक्षियों के सहित एक दिव्य विमान प्रस्तुत कर अपनी स्त्री देवहूती के सहित उस विमान पर आरोहण कर उन्होंने बहु-कालपर्य्यन्त परिभ्रमण तथा विहार किया था। रामायण के आदि काण्ड के षष्टितम अध्याय में वर्णित है कि, विश्वामित्र ऋषि ने राजा त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग को प्रेषित किया था; और बहु प्रकार के नक्षत्रों की सृष्टि कर उस राजा का अनुचर बना उन्हें चारों ओर स्थापित किया था। पृथ्वी में नारियल का फल विश्वामित्र-द्वारा सृष्ट हुआ, ऐसा अभी तक प्रसिद्ध है। पूर्वोक्त ऋषियों ने जब ऐसे असाध्य कर्म सम्पा-दित किये थे, उस समय भी वे यथार्थ में ब्रह्मवित् नहीं हुए थे; पश्चात् साधन द्वारा सिद्धमनोरथ हुए थे, उक्त पुरा-णादि में ऐसा ही उल्लिखित है। ब्रह्मवित् ऋषियों की सामर्थ्य इसकी अपेक्षा अशेष गुण अधिक है। ब्रह्मवित्

पुरुष समस्त विश्व को आत्मस्वरूप देखा करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के षष्ठाध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि, ब्रह्मविद् योगी लोग समस्त भूतग्राम का अपनी आत्मा में दर्शन किया करते हैं। सर्वत्र ही उनको ब्रह्मदर्शन हुआ करता है,

यथा;—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्व्वत्र सर्व्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के १० म श्रुतिवाक्य में उल्लिखित है कि, "ब्रह्मवित् पुरुष सर्व्वमयता प्राप्त करते हैं।" अतएव ब्रह्म के दर्शन कर ऋषि वामदेव ने कहा था कि, "मैं मनु हुआ था, मैं ही सूर्य्य हुआ था," और अब भी जिन्होंने ब्रह्म से अपने को अभिन्न जाना है, वे अपने को सर्वमय दर्शन करते हैं। देव-गण भी उनकी अपेक्षा अधिक बलशाली विवेचित नहीं हो, और न वे उनका कोई अनिष्ट करने में ही समर्थ होते हैं; कारण, वे इन सब देवताओं की भी आत्मा होते हैं।" (तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं, सूर्य्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति, तस्य ह न देवाश्च नाभूता ईशत, आत्मा ह्येषां स भवति।)

महाभारत के उद्योगपर्व्व के ४६ वें अध्याय में उल्लिखित है कि, ब्रह्मज्ञ भगवान् सनत्कुमारजी ने धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनादि को निर्देश कर कहा था कि, तत् समस्त उन्हीं का रूप है; और ब्रह्मज्ञ पुरुष कृपा कर अपना अनुभव दूसरों में भी संचारित कर सकते हैं।

अतएव साधारण जीव जब ऐसी समस्त शक्तियाँ और मुक्त पुरुष जब ब्रह्मरूपता प्राप्त करते हैं, तब गोलोकाधिपति अवतीर्ण श्रीकृष्णजी ने जो अर्जुन को समरक्षेत्र में और दुर्योधन-प्रभृति को सभामध्य में विश्वरूप का प्रदर्शन किया था इसमें विचित्रता ही क्या है ?

और तुम्हारी जिज्ञासा है कि, विश्वरूप के दर्शन करने पर भी अर्जुन का अज्ञान विगत क्यों नहीं हुआ, अब इसका उत्तर दिया जाता है।

अवतारतत्त्व के वर्णन में पहले ही मैंने कहा है कि, भगवान् जब अवतार ग्रहण करते हैं तब देव-तिर्यक्-मनुष्यादि रूप में उनका अवतार होता है। शास्त्रों के बहुस्थल में उल्लिखित है कि, भगवान् ने जब मथुरा में कृष्णावतार ग्रहण किया था, तब उन्होंने साधारण मनुष्य-रूप में ही अपने को प्रकटित किया था। यथा, श्रीमद्भागवतान्तर्गत १०म स्कन्ध के तृतीय अध्याय के ३६ संख्यक श्लोक में वर्णित है कि, जन्म-ग्रहण के पश्चात् माता-पिता को पहले शंखचक्रादियुक्त

साक्षात् चतुर्भुज नारायण-रूप का दर्शन कराकर, पश्चात् वे प्राकृत (साधारण मनुष्य) शिशुरूप धारण किये ("सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः")।

नाट्यशाला में अभिनय करने के हेतु तुम एक व्याघ्र का रूप धारण कर सकते हो; किन्तु जिन्हें यह अवगत है वे जानते हैं कि व्याघ्र का यह समस्त अभिनय तुम्हारा ही कर्म है, वह व्याघ्र तुम्हीं हो दूसरा कोई नहीं; उनका यह ज्ञान सम्पूर्ण सत्य है। परन्तु उस व्याघ्र को देखना और तुमको देखना ये दोनों एक ही बात नहीं हैं। इसी प्रकार भगवान् ने जब जब अवतार ग्रहण किया है, तब तब वह सब अवतार वे ही हैं, और अवतार के समस्त कार्य्य भी उन्हीं के हैं; परन्तु अवतार के दर्शन, और उनके निज स्वरूप के दर्शन एक ही विषय नहीं हैं, अतएव एक ही प्रकार के फलदायक भी नहीं हैं। यह सत्य है कि, अनेक मनुष्यों ने अवतार-श्रीकृष्ण के दर्शन किये थे; वे दर्शन भी उनके अशेष प्रकार के कल्याण-साधक हुए थे; किन्तु जिस रूप के दर्शन करने से समस्त हृदय-ग्रंथि छिन्न होती हैं और जीव कर्म-पाश से विमुक्त होते हैं (भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे") यह उस प्रकार का रूप नहीं है; यह अवताररूप है, जिसे लीला के निमित्त भगवान् ने ग्रहण किया है।

और जो अनन्त विराट् रूप के कुछ अंश अर्जुन को और

कुछ अंश दुर्योधनादि को भगवान् ने प्रदर्शित किये थे, वे भी एक प्रकार के प्राकृत रूप ही थे। इन्द्र, सूर्य्य, वसु, रुद्र, सप्तर्षिमण्डल इत्यादि जो कुछ अर्जुन ने देखा था वे सभी प्राकृतिक दृश्य थे। यह रूप भी पूर्व्वोक्त श्रुति के लक्ष्योकृत रूप नहीं है जिसके दर्शनमात्र से ही जीव कर्मपाश से विमुक्त हो, पाप-पुण्य से वर्जित हो जाते हैं।

मैंने तुमसे पहले ही कहा है कि, ब्रह्म के चतुर्विध रूप हैं। सद्रूप और चिन्मयरूप—ये दोनों ही—उनके अमूर्त रूप हैं; प्रकाशित अनन्त जगद्रूप और समस्त विशेषरूप इस सद्रूप से प्रकाशित हैं और सद्रूप ही में लीन होते हैं। उस चिदानन्दमय रूप ही को लक्ष्य कर श्रुति ने कहा है कि, उसके दर्शन करने पर समस्त हृदय-ग्रंथियाँ छिन्न हो जाती हैं, सांसारिक मोह विगत होता है और कर्म क्षय-प्राप्त होते हैं।

विषयः—बद्ध जीव, जीवन्मुक्त पुरुष और भगवदवतार के देहों में क्या पार्थक्य है ?

शिष्यः—भगवदवतार की देह एवं साधारण जीव की देह इन दोनों में क्या कुछ पार्थक्य है ? अन्ततः जीवन्मुक्त पुरुषों की देह और अवतारों की देह में तो कुछ प्रभेद दिखाई नहीं देता; जीवन्मुक्त पुरुषों का भी तो अभिमान विगत हो जाता है और अविद्या के विगत होने पर जगन्मय ब्रह्म-दर्शन होता है ? अवतार-देह क्या प्राकृत देह नहीं है ?

गुरु:—भगवदवतार की देह एवं जीव-देह इन दोनों में अशेष प्रभेद है, जीवन्मुक्त पुरुषों की देह के साथ भगवदवतार की देह की भी बहुत ही विभिन्नता है। पूर्व-पूर्व-जन्मों के कर्माज्जित फलभोग के निमित्त समस्त जीवों की देह उत्पन्न होती हैं; उन सब कर्मों के छाप (संस्कार) प्रत्येक जीव-देह में होते हैं, तदनुसार ही इस जीवन में जीव के भाग्य प्रकाशित होते हैं। भगवदवतार-देह इस प्रकार की कर्माधीन देह नहीं है, जगत् के कल्याणार्थ भगवत् की इच्छा-मात्र ही से यह देह विरचित होती है; इसका संगठन किसी कर्म-फल के भोगने के हेतु नहीं होता। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि जीवन्मुक्तावस्था में भी जीव प्रारब्ध कर्म के अधीन रहता है। अपर जीवों की देह एवं जीवन्मुक्त पुरुषों की देह में यह अन्तर कि, बद्ध जीव के कृतकर्म का संस्कार उसकी स्थूल तथा सूक्ष्म देह में वर्तमान रहता है। बद्ध जीव ज्यों ज्यों कर्म करता जाता है त्यों त्यों उन कर्मों का छाप (संस्कार) उसके अन्तःकरण पर पड़ता जाता है; ये सब संस्कार पर-जन्म के कारण होकर उस जन्म में सुख-दुःखादि का भोग प्रदान करते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषगण जो कर्म्म करते हैं, उन समस्त कर्मों का संस्कार उन पर प्रभाव नहीं डाल सकता; वे इन समस्त कर्मों से निर्लिप्त रहते हैं। बद्ध जीवों की देह और जीवन्मुक्त पुरुषों की देह में यही प्रभेद है। भग-वदवतार की देह में उनके कृत किसी कर्मसंस्कार की छाप

ता लगती ही नहीं; परन्तु उसमें किसी पूर्व्वजन्म के कर्म का संस्कार भी नहीं है; इस कारण भगवद्वतार-देह सर्व-प्रकार की कर्मवश्यता से वर्ज्जित होती है; उसमें तो निज अधिकारभूत इच्छा-मात्र-ही की छाप होती है। एक दृष्टान्त-द्वारा इसे समझाते हैं। काँच के एक टुकड़े पर पारद चढ़ा देने से वह टुकड़ा दर्पण का कार्य्य करता है, तुम्हारे मुख का चित्र उसमें उपस्थित होता है, तुम उस चित्र को देख सकते हो। परन्तु पारदहीन सादे काँच में उक्त प्रकार का चित्र उपस्थित नहीं हो सकता, सुतरां तद्‌द्वारा दर्पण का कार्य नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार अवतारदेह और जीवन्मुक्त पुरुषों की देह में इस जन्म का कर्मसंस्कार प्रभाव नहीं डाल सकता। कारण यह है कि, अविद्यारूपी पारद का संसर्ग उनमें नहीं है। परन्तु काँच ही यदि हरे रंग का हो, उसके पिघलाने के समय ही यदि (भट्ठी में) हरा रंग मिला दिया गया हो, तब पारद लगाने पर तुम्हारा जो चित्र उसमें उपस्थित होगा वह हरित रंग विशिष्ट बोध होगा। यह सत्य है कि, यदि पारद न लगाया जाय तो यह काँच कोई चित्र उपस्थित न कर सकेगा, परन्तु जब काँच के भीतर से दृष्टि-पात करके बाहर की वस्तु देखी जाय तब वह हरित रंगविशिष्ट दृष्टिगोचर होगी; यह दशा किसी प्रकार से भी निवा-रित नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि, हरा रंग उस काँच की उत्पत्ति से ही उसके स्वरूपगत भाव में प्रविष्ट हो

गया है। जीवन्मुक्त पुरुषों की देह भी इसी प्रकार के पूर्वजन्म-संस्कारविशिष्ट हैं। जैसे हरित काँच जब तक तोड़ कर चूर्ण-विचूर्ण न कर डाला जाय और पुनः अग्नि-संस्कार-द्वारा शुद्ध न कर लिया जाय, तब तक उसका हरा रंग छूटता नहीं, इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषों का जब तक देह-पतन नहीं हो जाता तब तक पूर्वजन्म के कर्म की छाप उसमें लगी रहती है, वह देहपात होने ही पर दूर होती है। परन्तु काँच के गठित होने के पश्चात् उसके पृष्ठभाग को पारद से संयुक्त करने पर वह दर्पण का कार्य्य करता है, पारद विश्लिष्ट होने पर कोई चित्र उसमें उपस्थित नहीं होता; तद्रूप अज्ञान के साथ संयोग के विनष्ट होने पर मुक्तपुरुषों के कृतकर्म का कोई संस्कार उनके चित्त को रंजित नहीं कर सकता।

किन्तु अवतार-देह सर्व्वदा स्वच्छ और निर्मल काँच के स्वरूप की है; उसकी उत्पत्ति किसी कर्म संस्कार रूप 'गविशिष्ट भाव-द्वारा नहीं है; उत्पत्ति के पश्चात् भी कोई अविद्यारूप पारद उसके साथ युक्त नहीं होता। अतएव अवतारदेह एवं अपर जीवदेह में अशेष प्रभेद है।

और भी तुमने जिज्ञासा की थी कि, अवतार-देह प्राकृत-देह है कि नहीं। प्राकृत शब्द दो अर्थों में व्यवहृत है। क्षिति और अप् अंश प्रधान पञ्चभूतात्मक देह जो सर्वदा दिखाई देती है वही प्राकृत देह है; जो ऐसा नहीं है, तदपेक्षा विशुद्ध और सूक्ष्म है वह अप्राकृत है; जैसे देवताओं की देह अप्राकृत

कही जाती है। यह प्राकृत का एक अर्थ है, मूल प्राकृत के विकार के अर्थ में भी प्राकृत शब्द व्यवहृत होता है। इसी शेषोक्त अर्थ में जो कुछ प्रकाशित अवयव-विशिष्ट हैं वे सभी प्राकृत हैं। इस अर्थ में देव-देह भी प्राकृत है। परन्तु प्राकृत-अप्राकृत-विषयक विचार अज्ञान-प्रसूत समझना चाहिए। सार सत्य तो यही है कि, एतत्समस्त जगत् ही ब्रह्म है; मूल प्रकृति उसी की शक्तिविशेष है, उसी को शास्त्रों में माया, प्रधान, काल इत्यादि नामों से आख्यात किया है। जब तक ब्रह्मज्ञान उदय नहीं होता तभी तक भेद-बुद्धि रहती है। जब तक प्रकृति को, ब्रह्म से अभिन्न, ब्रह्म की आत्मभूत शक्ति कह कर ज्ञान नहीं उत्पन्न होता, तभी तक ऐसा विचार रहता है कि, यह वस्तु प्राकृत, यह वस्तु अप्राकृत है; ब्रह्मज्ञ पुरुष प्रकृति और प्राकृत जगत् दोनों को ब्रह्मरूप (अप्राकृत रूप) ही में दर्शन करते हैं। अचेतन जगत् के स्वरूप को अवधारित करते समय श्रीनिम्बार्क भगवान् ने वेदान्तकामधेनु नामक ग्रंथ में कहा है:—

अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥

अर्थात् अचेतन के दो प्रकार के रूप हैं; एक अप्राकृत (सद्ब्रह्म) रूप अपर प्राकृत रूप। यही प्राकृत रूप काल-स्वरूप, यही माया प्रधानादि नामों से आख्यात है। शुक्ल, लोहित और कृष्ण (सत्त्व, रजः और तमः) ये समस्त भेद इसी के हैं।

समस्त जगत् ही ब्रह्ममय, एतत्समस्त ब्रह्म ही का प्रकाश है। श्रुति, स्मृति, सर्व्वविध शास्त्रों में निश्चितरूप से इसका उपदेश हुआ है। इसके ज्ञात हो जाने पर साधक आनन्द-लाभ करते हैं और स्वयं आनन्दमय हो जाते हैं। इसकी व्याख्या हमने पूर्व्व ही में की है। यह यदि सार सत्य है, तब भगवान् के स्वच्छ अवतार रूप को सर्व्वप्रथम ही साक्षात् ब्रह्मस्वरूप कह कर धारणा करना क्या सर्वतोभाव से कर्तव्य नहीं है? जो अपना कल्याण चाहते हैं, तथा अविद्या-पाश से मुक्त होने की इच्छा करते हैं, उनके लिये औरों में न हो तो भगवद्विग्रह में ब्रह्म-बुद्धि स्थापित करने का अभ्यास करना क्या सबसे पहले उचित नहीं? यह भी जो नहीं करने की इच्छा करते हैं, उन्हें भाग्यहीन न कहें तो और क्या कहें? इसी के कारण किसी किसी ग्रंथ में ऐसा भी लिखित है कि, ऐसे पुरुष को देश से बहिष्कृत कर देना चाहिये, उसके साथ नहीं रहना चाहिये। भगवत्-प्रतिमा और गुरु में ऐसी ब्रह्मबुद्धि स्थापित करना अपने कल्याण के अभिलाषी पुरुष के लिये परमावश्यकीय है। श्रीमद्भागवत में लिखा है:—

"आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥"

अर्थ:—आचार्य को मेरा (भगवान् का) ही स्वरूप कह

कर जानना। कभी उनकी अप्रतिष्ठा न करना, मनुष्य-बुद्धिरूप असूया उनमें न रखना। गुरु को सर्वदेवमय जानना।

अन्यत्र:—

यो विष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा।
यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति विष्णु-प्रतिमा में लौहबुद्धि (अर्थात् लौहनिर्मित प्रतिमा में लौहबुद्धि) और गुरु में मनुष्य-बुद्धि रखते हैं वे दोनों नरकगामी होते हैं। श्रुति ने स्वयं कहा है; "स हि विद्यां जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म तस्मै द्रुह्येन्न कर्हिचित्;" अर्थात्, वे विद्या उत्पादित करते हैं, यही श्रेष्ठ जन्म है, उनकी कभी अप्रतिष्ठा न करना (उनमें प्राकृत बुद्धि रखना ही उनकी अप्रतिष्ठा करना है; कारण इसके द्वारा उनकी प्रकृत ब्रह्मरूपता की अप्रशंसा होती है। इसी कारण भागवतकार ने कहा है "न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत।")

इसी भाँति गुरु में, शालग्राम में और अपर विष्णु-प्रतिमाओं में प्राकृतिक बुद्धि स्थापित करना अनेक शास्त्रों के मत से निन्दनीय है; यहाँ तक कि, ऐसे पुरुष के साथ सम्भाषण भी निषिद्ध है।

अतएव यह सदैव स्मरण रखना कि, आत्मकल्याणार्थी साधक को कभी भगवद्विग्रह में प्राकृत-बुद्धि स्थापित नहीं करना चाहिये। इस अवतार-देह में यदि कोई भगवद्भाव भलीभाँति

पोषित कर सके तो, उसमें शीघ्र ही सर्वत्र ब्रह्मदर्शन का स्फुरण होगा।

हम लोगों के सम्प्रदाय में श्रीकृष्णमूर्ति ही उपासना का मुख्य अवलम्बन है। भक्तिपूर्वक उनके भजन से शीघ्र ही समस्त अशुभ विनष्ट होते हैं, और चित्त निर्मल होता है; तब वे कृपा कर शीघ्र ही साधक को अपना प्रकृत चिदानन्दमय रूप प्रदर्शित करते हैं, और साधक कृतार्थ होता है। वास्तव में समस्त प्रकार के उच्च-साधकों को भगवान् के निर्मल सत्वमय लोक के भीतर से जाकर ही परब्रह्म के साथ मिलित होना पड़ता है। देहान्त के पश्चात् जीवन्मुक्त पुरुष भी अर्च्चिरादि मार्ग से ही उस उच्चतम सत्वमय लोक में प्रथम ही पहुँचाये जाते हैं, तत्पश्चात् वे परब्रह्म-रूपता को प्राप्त होते हैं। तुमसे मैंने पहिले ही कहा है कि, श्रुतिवाक्यों के विचार-द्वारा वेदान्त-दर्शन के चतुर्थाध्याय में श्री भगवान् वेदव्यास ने इसे प्रतिपादित किया है। जीवनकाल में भी साधक उसी सत्वमयता के भीतर से गमन कर परब्रह्म को प्राप्त होते हैं; कारण विशुद्ध सत्वमयता को प्राप्त न करने से (चित्त के सम्यक् निर्मल न होने से) ब्रह्मदर्शन नहीं होता। सत्वगुणाधिपति भगवान् की उपासना ही से यह निर्मलता शीघ्र ही प्राप्त होती है। जो लोग ज्ञान-योगावलम्बन से केवल निर्गुण अक्षर-ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे भी उस ध्यानबल से इसके साक्षात्-फलस्वरूप सगुण ब्रह्म ही को पहले प्राप्त करते हैं। यह विषय भगवद्गीता के अनेक

स्थलों में श्री भगवान् द्वारा वर्णित है, यथा, गीता के १८ श अध्याय में लिखित है:—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्मसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय **निष्ठा ज्ञानस्य या परा** ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयाँस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

पूर्वोद्धृत ५० संख्यक श्लोक में भगवान् ने कहा है कि, ज्ञान की जो चरमावस्था है (निष्ठा=पर्य्यवसानं......ब्रह्म-ज्ञानस्य या परा समाप्तिरिति शांकरभाष्ये), उसे मैं तुमसे

कहता हूँ; यह कह कर उस ज्ञान-साधन-प्रणाली को परवर्ती दो श्लोकों में वर्णन कर, ५३ संख्यक श्लोक के शेष चरण में भगवान् ने उस ज्ञान साधन के फल को इस भाँति वर्णन किया है कि, साधक ("ब्रह्मभूयाय कल्पते") ब्रह्मरूप में स्थिति-लाभ करते हैं; पुनः ५४, ५५ श्लोकों में उन्होंने कहा है कि, ("ब्रह्मभूतः") इस प्रकार की ब्रह्मरूपता प्राप्त होने पर वे प्रसन्नात्मा होते हैं, तथा शोक और आकांक्षा रहित और सर्वभूत में समदर्शी होते हैं; तत्पश्चात् मत्सम्बन्धिनी परा-भक्ति को प्राप्त होते हैं; इस पराभक्ति द्वारा वे तत्त्वों के सहित मेरे स्वरूप को अवगत होते हैं; तत्पश्चात् मुझमें प्रविष्ट होते हैं। इस स्थल में लक्ष्य करना कि ज्ञान-साधन का अन्तिम फल ब्रह्म-प्राप्ति है, भगवान् ने इसको ५३ संख्यक श्लोक में प्रदर्शित किया है। यह ब्रह्म परब्रह्म नहीं हो सकता, इसको सगुण-ब्रह्म, हिरण्य-गर्भ, कार्य्य-ब्रह्म, अनन्तदेव इत्यादि नामों में अभिहित करते हैं। कारण, परवर्ती ५४ श्लोक में कहा गया है कि, "ब्रह्मभूतः" (ब्रह्म होकर, ब्रह्म-रूपता की प्राप्ति के पश्चात्) साधक भगवत्-सम्बन्धिनी पराभक्ति को प्राप्त होते हैं, और उसके परवर्ती श्लोक में कहा गया है कि, उस पराभक्ति के द्वारा वे (साधक) परब्रह्मरूपी भगवान् को तत्त्वों के साथ जानकर अन्त में उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं। साधारणतः ब्रह्म शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है; परब्रह्म और कार्य्यब्रह्म। जब ५४,५५ श्लोकों में "मत्" शब्द परब्रह्म

अर्थ में व्यवहृत किया गया है, तब प्रथमोक्त ब्रह्म जिसके पाने से पराभक्ति प्रकाशित होती है वह कार्य्यब्रह्म छोड़कर दूसरा कुछ नहीं हो सकता। शांकरभाष्य में ब्रह्मभूतः पद का अर्थ "ब्रह्मप्राप्तः" कह कर ही व्याख्यात है, किन्तु उस श्लोक में जो उल्लिखित है कि, ब्रह्म-प्राप्ति होने पर भगवान् के प्रति पराभक्ति उत्पन्न होती है, उसे एक विशेष ज्ञान-स्वरूप भक्ति कह कर शंकराचार्य्यजी ने वर्णन किया है। इस विषय का विचार इस स्थल में अनावश्यक है; परन्तु ५३,५४ श्लोकों में जो यह उक्त है कि, ज्ञान की परानिष्ठा से ब्रह्म पहले प्राप्त किया जाता है, वह ब्रह्म कभी परब्रह्म नहीं हो सकता; कारण उसको प्राप्त होने से उसके अतिरिक्त और कौन है जिसके प्रति पराभक्ति प्रकाशित हो; अतएव इस प्रथमोक्त ब्रह्म के कार्यब्रह्म होने में कुछ सन्देह नहीं हो सकता। भक्तियोग द्वारा भी जो यह ब्रह्मरूपता-प्राप्ति होती है, वह भगवान् ने गीता में स्पष्टरूप से कहा है। यथाः—

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४ श अ० २६ श्लोक)

वास्तव में भगवान् की निर्मल सत्त्वगुणमय मूर्ति ही जीवों के हेतु भवसागर का सेतु-स्वरूप है। शास्त्र में उक्त है किः—

आरोग्यं भास्करादिच्छेद्धनमिच्छेद्धुताशनात् ।
ज्ञानं च शंकरादिच्छेन्मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात् ॥

अर्थात्—सूर्य्य-देव आरोग्यदान करते हैं, आरोग्यप्राप्ति के हेतु उनकी उपासना करनी चाहिये; इसी भाँति धन-लाभ के हेतु हुताशन की उपासना करनी चाहिये; ज्ञान के हेतु शंकर की उपासना आवश्यक है; तथा मुक्ति के हेतु जनार्दन वासुदेव आराध्य हैं। हरि (वासुदेव) रूप से ही ब्रह्म जीव के मुक्तिदान रूप यथार्थ कल्याण को साधित किया करते हैं। अतएव जो लोग भवबन्धन से सम्यक् विमुक्ति-लाभ की अभिलाषा करते हैं उनको जनार्दन हरि की उपासना करनी चाहिए। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तवात्सल्यादि गुणों के द्वारा भक्त जनों को अति शीघ्र भवसागर से पार कर स्वीय आनन्दमय रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वादश अध्याय के पहले ही उल्लिखित है कि, भगवान् से अर्जुन ने निम्नलिखित प्रश्न किया:—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

एकादश अध्याय में भगवान् ने विश्वरूप (तथा निजस्वाभाविक रूप) को अर्जुन को प्रदर्शित किया था। उस अध्याय के ५२ संख्यक श्लोक से अन्त तक के श्लोकों के द्वारा इस सद्गुण ब्रह्म की भक्तिपूर्वक उपासना करने का

भगवान् ने उपदेश किया है। अतएव द्वादश अध्याय के प्रारम्भ में ही अर्जुन ने जिज्ञासा की:—

हे कृष्ण! इस प्रकार त्वद्गतचित्त हो जो समस्त भक्तगण सदैव तुम्हारी सम्यक् उपासना करते हैं, और जो लोग अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की इस भाँति से उपासना करते हैं, उनमें कौन श्रेष्ठतम योगवित् (योगी) है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है:—

"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अर्थात्:—मुझमें मन को प्रविष्ट कर तथा परमश्रद्धा के साथ जो लोग मुझसे युक्त हो मेरी उपासना करते हैं, वे ही श्रेष्ठ-तम योगी हैं।

तत्पश्चात् अक्षरोपासकों के संबंध में भगवान् ने कहा है:—

"ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्व्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

अर्थः—इन्द्रिय-समूह को सम्यक् संयत कर तथा सर्वत्र समदर्शी तथा समस्त भूतों के हितकारी होकर जो सत्पुरुष

अक्षर, अनिर्वचनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अपरिवर्तनशील, तथा ध्रुव ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे भी मुझी को प्राप्त होते हैं। (अर्थात् मुझ को प्राप्त हुए बिना कोई अक्षर-रूप में प्रविष्ट नहीं हो सकता)। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अष्टमादि अध्यायों में वर्णन है कि, भगवान् के नाभि-कमल से उत्पन्न होकर निज उत्पत्ति के मूल को जानने के अभिप्राय से ब्रह्मा के **निरवलम्ब समाधियोग में अवस्थित होने पर**, ब्रह्म ने सगुण (साकार) रूप ही से उनके निकट आविर्भूत हो उन्हें उपदेश दिया। ऐसे दृष्टान्त पुराणों के अनेक स्थलों में पाये जाते हैं।

यदि अक्षर उपासकगण भी भगवान् को प्राप्त करते हैं, तो उनसे अपने भक्त-गणों को किस कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठतम कहा है, ऐसी आशंका के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥
ये तु सर्व्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

अर्थः—अव्यक्त ब्रह्म की उपासना में आसक्त पुरुषों को

(सिद्धि-संबन्ध में) अधिकतर क्लेश होता है (उनको सिद्धि-लाभ अति कठिनता से और विलम्ब में होता है) । कारण, अव्यक्त विषय में मन की गति (लक्ष्य) स्थापित करना देह-धारी जीवों के लिये अत्यन्त क्लेशजनक है, (यह सरल कार्य्य नहीं है) ॥५॥

किन्तु जो लोग मत्परायण हो समस्त कर्मों को मुझमें अर्पण कर (निज कर्तृत्वाभिमान को सम्यक् वर्जन कर) अन्य चिन्तासमूह को परित्याग कर एकाग्रचित्त से मेरा ध्यान कर मेरी उपासना करते हैं ॥६॥

मुझमें निविष्टचित्त उन सब पुरुषों का मृत्युरूप संसार-सागर से मैं अल्पकाल ही में उद्धार करता हूँ ॥७॥

दुर्बल नौका के लिये समुद्रलंघनकार्य्य अतिशय दुस्तर है; शक्तिशाली पोत के साथ बाँधने पर, नौका चाहे जितनी दुर्बल हो, वह सहज में समुद्र-लंघन कर सकती है । भगवान् ने कहा है कि, जीवों के हेतु उस अव्यक्त, वाक्य और मन से अगोचर, वस्तु की धारणा करना दुःसाध्य है; किन्तु मैं बल-वान् हूँ; मेरे साथ युक्त होने पर मैं सहज में उनको पार कर देता हूँ; इस हेतु अपने उपासकों को मैंने अधिक बुद्धिमान् और श्रेष्ठ कहा है । अक्षरोपासकों को ("न किंचिदपि चिन्तयेत्") कुछ भी चिन्ता नहीं करना चाहिये, मन को इस भाँति निरवलम्ब अवस्था में रखना चाहिये कि, जिससे किसी प्रकार की चिन्ता

न आवे। मन को ऐसी अवस्था में रखना कितना कठिन है, यह वे ही जानते हैं जिन्होंने ऐसी चेष्टा की है, और पूर्वोक्त वाक्यसमूह की सत्यता को वे ही समझ भी सकते हैं। उपरोक्त श्लोकसमूह की भाषा अतिसरल और सुस्पष्ट है; परन्तु कोई कोई व्यक्ति इन श्लोकों के द्वारा यही प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं कि, भगवान् के मत में अव्यक्त की उपासना ही श्रेष्ठ है। जो कुछ हो, इसका विचार निष्प्रयोजन है; श्लोक की भाषा अति सरल है; भाषा देख कर तुम लोग अनायास ही इसका विचार कर सकते हो। जो लोग अव्यक्त में चित्त समाधित कर सकते हैं, वे ऐसे ही करें; इसमें कोई निषेध नहीं है। किन्तु इससे फल-लाभ विलम्ब में होता है। मोक्षफल-लाभ ही सबका लक्ष्य है, परन्तु भगवान् ने कहा है कि, अक्षरोपासना की अपेक्षा सहज में उनकी सगुण भाव की उपासना से उसी फल की प्राप्ति होती है; इस कारण वैष्णव लोग साधारणतः सगुण ब्रह्मोपासना का ही अवलम्बन किया करते हैं।

स्वरूपतः अमूर्त, वाक्य और मन से अगोचर, तथा अचिन्त्य होने पर भी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, विश्वप्रकाशक, आनन्दमय, परब्रह्म, भक्तजनों के सुचिन्त्य, भक्तवात्सल्यादि गुणों से सदैव विभूषित, मनोहर, शुद्ध, सत्वमय तनु को जगत् के कल्याणार्थ धारण कर प्रकाशित हुये हैं; उसको छोड़ जीव की अन्य कोई गति नहीं है, इस बुद्धि से वैष्णवगण साधा-

रणत: उनकी ध्यानोपासना किया करते हैं। अनन्त आकाश-व्यापी अनन्तमूर्ति-भगवान् की भी ध्यानोपासना वैष्णवों के लिये आदरणीय है, तद्रूप सगुणोपासना का भी कोई कोई अव-लम्बन करते हैं। कोई कोई वैष्णवगण विश्वातीत परन्तु सर्वगत केवल चैतन्यस्वरूप पुरुषोत्तम रूप में भी भगवद्ध्यान किया करते हैं। परन्तु ऐसी उपासना कठिन है, यह साधारण जनों के लिये उपदेष्टव्य नहीं है, कारण ऐसी धारणा करने की योग्यता कम लोगों में होती है। जो लोग साकार उपासना में भक्ति स्थापित करने में असमर्थ हैं उनको बाध्य होकर अक्षरोपासना में मनोनिवेश करने की चेष्टा करनी चाहिये, यही उनके लिये प्रशस्त है।

विषय:—श्रीकृष्णावतार द्विभुज अथवा चतुर्भुज है ?

शिष्य:—श्रीकृष्णावतार द्विभुज अथवा चतुर्भुज है, इस विषय में मैंने अनेक मत सुने हैं। इस संबंध में आपका सिद्धान्त जानने की मुझे अभिलाषा है।

गुरु:—भगवान् गोलोकाधिपति जिन्होंने श्रीकृष्णरूप में अव-तार ग्रहण किया था, वे स्वयम् द्विभुज मुरलीधर हैं इसका वर्णन मैंने पहिले किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराणादि में यह स्पष्टरूप से उल्लिखित है (ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृति खण्ड ५४ अध्याय इत्यादि स्थल द्रष्टव्य)। उपासकों के लिए इसका विचार इतना आवश्य-कीय नहीं है कि, उनकी अवतारमूर्ति चतुर्भुज अथवा द्विभुज

थी। गोलोकाधिपति का चतुर्भुज नारायण रूप तो है ही; अतएव चाहे वे चतुर्भुज अथवा द्विभुज रूप में प्रकट हुए हों, उभयरूप में ही उनका ध्यान संगत है। हमारे सम्प्रदाय में इन दोनों रूपों का ध्यान प्रचलित है। द्वारकाप्रभृति स्थानों में अधिकांश वैष्णव लोग चतुर्भुज रूप ही का ध्यान करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि, भगवान् चतुर्भुज होकर ही पृथ्वी में कृष्णरूप से अवतीर्ण हुए थे। व्रज में द्विभुजरूप ही की उपासना अधिक प्रचलित है। कोई कोई चतुर्भुजरूप की भी उपासना करते हैं; कारण व्रज में भी किसी किसी स्थल में प्राचीन विग्रह चतुर्भुजविशिष्ट देखने में आते हैं। वास्तव में भगवान् साधक के निकट इन दोनों रूपों में प्रकट होते हैं, इसे निश्चित सत्य समझना। श्रीमद्भागवत के ३ स्कन्ध ६ अ० के ११ श श्लोक में उक्त है "यद्यद्धिया उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयते सदनुग्रहाय" अर्थात् हे भगवन्! भक्तगण स्वेच्छानुसार आपकी जिन जिन मूर्तियों का ध्यान करते हैं, उन पर अनुग्रह के कारण आप वैसी ही मूर्तियों में प्रकाशित होते हैं।

परन्तु भगवदवतार-मूर्ति चतुर्भुज अथवा द्विभुज थी, इस सम्बन्ध में शास्त्र प्रमाण की आलोचना करने पर देखने में आता है कि:—

महाभारत के अनेक स्थलों में चतुर्भुज करके उनका वर्णन है; यथा भीष्मपर्वस्थित श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश अध्याय के ४५, ४६ संख्यक श्लोकों में उक्त है कि, विश्व-रूप-दर्शन

से भयभीत होकर अर्जुन ने भगवान् को अपनी (अर्जुन की) पूर्वदृष्ट चतुर्भुज मूर्ति धारण करने के हेतु प्रार्थना की। इस पर भगवान् ने ४९ वें श्लोक में अर्जुन को आश्वासित कर कहा कि;—

.... पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।

अर्थात्—मैं पुनः तुमको अपने पूर्वरूप के दर्शन कराता हूँ, तुम उसके दर्शन करो। ऐसा कह कर (५० वें श्लोक में उक्त है कि) भगवान् ने पुनः अपनी सौम्यमूर्ति धारण कर अर्जुन को उसे प्रदर्शित किया। तत्पश्चात् ५१ वें श्लोक में उल्लिखित है कि, अर्जुन भगवान् की सौम्य मनुष्यमूर्ति देख कर प्रकृतिस्थ हुए। इसके द्वारा तो यही प्रमाणित होता है कि, विश्वरूप धारण करने के पूर्व भगवान् चतुर्भुजधारी मनुष्यमूर्ति ही में थे। विश्वमूर्ति दर्शन से भयभीत होकर अर्जुन ने भगवान् से वही चतुर्भुज मूर्ति धारण करने की प्रार्थना की थी; इस पर भगवान् विश्वमूर्ति संवरण कर उसी चतुर्भुज मनुष्यमूर्ति में प्रकाशित हुए थे। इसके द्वारा तो यही सिद्ध होता है कि, भगवान् ने चतुर्भुज-रूप से अवतार ग्रहण किया था। महाभारत में मौशलपर्व के अष्टम अध्याय के २० से २२ संख्यक श्लोकों में उक्त है कि, श्रीकृष्णजी के लीला-संवरण करने पर अर्जुन उनके वियोग-विरह से कातर हो विलाप करते हुए व्यासदेवजी से कहते हैं;—

"चतुर्भुजः पीतवासाः श्यामः पद्मदलेक्षणः ।
यश्च याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः ॥
प्रदहन् रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमच्युतम् ।
येन पूर्वं प्रदग्धानि शत्रुसैन्यानि तेजसा ॥
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैरहं पश्चाच्च नाशयन् ।
तमपश्यन् विषीदामि घूर्णामीव च सत्तम ॥"

अर्थः—मैं उस चतुर्भुज पीत-वसन कमललोचन (कृष्ण-चन्द्र) को इस समय नहीं देख रहा हूँ जो अपने तेज द्वारा शत्रु-सैन्य को पहले ही दग्ध करते हुए मेरे रथ के अग्रभाग पर स्थित होकर गमन करते थे, और मैं उनके पीछे रहकर गांडीव-विनिर्मुक्त शरों के द्वारा उन (शत्रुसेना) को विनष्ट करता था। ऐसे श्रीकृष्ण को न देख मैं शोकातुर हो रहा हूँ और मेरा अन्तःकरण विघूर्णित हो रहा है।

पुनः उस अध्याय के २९ श श्लोक में अर्जुन की सान्त्वना करते समय वेदव्यासजी ने भगवान् को चतुर्भुज ही कहकर वर्णन किया है, यथा:—

"तव स्नेहात् पुराणर्षिर्वासुदेवश्चतुर्भुजः ।
कृत्वा भारावतरणं पृथिव्याः पृथुलोचनः ॥

महाभारत के अन्यान्य स्थलों में भी ऐसे ही स्पष्ट रूप से वर्णन है। यथा, अनुशासनपर्व के १४७ अ० के ३२ श्लोकः—

"वसुदेव इति ख्यातं पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥"

पुनः १४८ अध्याय २२ श्लोकः—

"सोऽयं पुरुषशार्दूलो मेघवर्णश्चतुर्भुजः"...... इत्यादि ।

पुनः अश्वमेध पर्व के ५२ अ० के अन्तिम भाग में ।:—

"विनिर्ययौ नागपुराद्गदाग्रजो रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ।।५४ ॥ इत्यादि

ब्रह्मपुराण के २११ अ० में वर्णित है कि, लीला-संवरण के पूर्व जानु के ऊपर पदस्थापनपूर्वक अवस्थित हो जब भगवान् योगासन पर विराजमान थे, तब जरा नामक व्याध ने दूर से उनके पद-तल को मृगाकार देख मृग समझ कर बाण-द्वारा उसे विद्ध किया और तत्पश्चात्—

"गतश्च ददृशे तत्र चतुर्बाहुधरं नरम् ।
प्रणिपत्याह चैवैन प्रसीदेति पुनः पुनः ॥७॥
अजानता कृतमिदं मया हरिणशंकया ।
क्षम्यतामात्मपापेन दग्धं मा दग्धुमर्हसि ॥८॥

अर्थात्:—निकट जाकर व्याध ने देखा कि, वहाँ चतुर्बाहु-विशिष्ट कोई मनुष्य है (मृग नहीं, चतुर्भुज एक मनुष्य ही विद्ध हुआ है) । तब उसने प्रणिपातपूर्व्वक कहा, "आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों, कृपया प्रसन्न हों" इसी प्रकार से वह बार बार कहने लगा; और भी कहा, मैंने अज्ञान-वश हरिण समझ

कर ऐसा कर्म्म किया है, आप क्षमा कीजिये। मैं अपने पाप से ही दग्ध हो रहा हूँ। मुझे और न जलाइये।

गीता तथा मौशलपर्व्व के जो समस्त वाक्य पूर्व्व ही उद्धृत किये गये हैं, उनके भाव अन्य प्रकार से भी व्याख्यात हो सकते हैं; परन्तु ब्रह्मपुराण के उपरोक्त वाक्यों का भाव अन्य किसी प्रकार से व्याख्यात नहीं किया जा सकता। जरा व्याध ने हरिण ही को विद्ध करने की इच्छा की थी, किसी विशेषरूप के मनुष्य के दर्शन हो जाने की कल्पना भी उसके मन में न थी। परन्तु वहाँ जाकर देखता है कि, चतुर्भुज-धारी एक मनुष्य उसके बाण-द्वारा विद्ध हुआ है। इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि, भगवदवतार चतुर्भुजविशिष्ट मनुष्य रूप में ही था। पूर्वोक्त घटनासम्बन्ध में महाभारत के मौशलपर्व्व के २३ संख्यक श्लोक में उक्त है कि, जरा व्याध ने (बाण के द्वारा मृग-बोध से श्रीकृष्णजी के चरण को विद्ध कर) समीप जाकर ("अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तं पीताम्बरं लुब्ध-कोऽनेकबाहुम्") अनेक बाहुयुक्त (दो से अधिक अर्थात् चतु-र्बाहुयुक्त) उन (श्रीकृष्णजी) के दर्शन किये।

दो बाहु के होने पर विशेषरूप से इस स्थल पर बाहु का उल्लेख होना निष्प्रयोजन होता है।

श्रीमद्भागवत के नाना स्थलों में श्रीकृष्णजी के चतुर्भुज मनुष्यरूप होने का वर्णन है। यथा ब्रह्मपुराणोक्त पूर्वोक्त घटना

के वर्णन करने में ११ स्क०, ३० अ० में भागवतकार ने कहा है:—

"मूशलावशेषखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।
मृगाकारं तच्चरणं विव्याध मृगशंकया ॥३३॥

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥३४॥

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन ।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥ ३५॥"

अर्थः—जरा नामक व्याध ने मूशल के क्षयावशिष्ट लौह-खण्ड के द्वारा बाण प्रस्तुत किया था। दूर से मृगमस्तक समझ कर भगवान् के चरण को लक्ष्य कर उस व्याध ने उसे बाण-द्वारा विद्ध किया ॥३३॥

परन्तु तत्पश्चात् उनको चतुर्भुज पुरुष देखकर अपने को अपराधी समझ भीत होकर वह असुर-द्वेषी भगवान् के चरणों पर मस्तक रख गिर पड़ा ॥३४॥

और बोला, "हे मधुसूदन ! मैंने अज्ञान-वश यह पाप कर्म किया है। हे निष्पाप उत्तमश्लोक ! मेरे अपराध को आप क्षमा कीजिये ॥३५॥

इस वर्णन-द्वारा यही प्रमाणित होता है कि, भगवान् की देह चतुर्भुजविशिष्ट थी।

श्रीमद्भागवत के और भी अनेक स्थलों में उनके चतुर्भुज रूप होने का वर्णन है। यथा, ३ स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय के प्रथम भाग में उद्धव-विदुर-संवाद में उक्त है कि, भगवान् का अन्वेषण करते करते उद्धव ने उन्हें सरस्वती के तीर पर उपविष्ट देखा। उन्हें दूर से देखकर उनको जिस कारण कृष्ण कह कर अवधारित किया, वह उस अध्याय के सप्तम श्लोक में वर्णित है; यथा—

"श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥

अर्थात्, हे विदुर! उज्ज्वल श्याम-वर्ण, शुद्ध सत्त्वमय रूप, अरुणलोचन, पीतकौशेयवसनपरिधायी और चतुर्भुज-विशिष्ट देखकर दूर से ही मैंने उनको कृष्ण कहकर अवगत किया।

इस स्थल में उद्धव कहते हैं कि, "दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितम्" अर्थात् चतुर्भुजविशिष्ट देखकर मैंने उनको कृष्ण जाना। इस वाक्य के पढ़ने से और कोई शङ्का नहीं रह जाती कि, श्रीकृष्ण चतुर्भुजविशिष्ट थे और यही उनका एक विशेष चिह्न था।

पुनः श्रीमद्भागवतान्तर्गत १० म स्कन्ध के ५१ अध्याय के १,२ श्लोकों में उल्लिखित है कि, कालयवन के मथुरा पर आक्रमण करने पर, जब भगवान् ने द्वारकापुरी निर्मित कर

तथा स्वजनवर्ग को वहाँ स्थापित कर मथुरा में प्रत्यागमन कर कण्ठ में पद्ममाला पहिन, बिना किसी अस्त्रधारण किये मथुराद्वार से एकाकी निर्गत हुए, तब कालयवन ने उन्हें इस भाँति देखा था:—

"तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम् ।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥१॥
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकंजारुणेक्षणम् ॥२॥

अर्थ:—उनका रूप नवोदित शशधर के समान अति रमणीय था। वे श्याम-वर्ण तथा पीतकौशेयवसनधारी थे, उनका वक्ष:स्थल श्रीवत्सलाञ्छित था और उनके गलप्रदेश में कौस्तुभमणि विराजित थी; और वे आजानुलम्बित स्थूल चतुर्बाहु-युक्त तथा प्रस्फुटित रक्तपद्म की भाँति लोचन-विशिष्ट थे। (उनका यह रूप देखकर कालयवन ने स्थिर किया कि, यही श्रीकृष्ण हैं, अन्य कोई नहीं हो सकता। कारण यह है कि, पूर्वही उसके समीप नारद ने यह वर्णन किया था कि, श्रीकृष्णजी श्रीवत्सलांछितवक्ष, कमललोचन, वनमाली चतुर्भुज तथा अति सुन्दर हैं।)

"वासुदेवो ह्ययमिति पुमान् श्रीवत्सलाञ्छन: ।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दर: ॥
लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।"

इस प्रकार उनको श्रीकृष्ण निश्चय कर कालयवन उन पर आक्रमण करने के हेतु उन (श्रीकृष्णजी) के पीछे धावित हुआ।

इस वर्णन से प्रकट होता है कि, महाबली कालयवन को विनाश करने तथा श्रीकृष्णजी के साथ उसका संग्राम संघटित हो जाने के अभिप्राय से, नारदजी ने पूर्व ही में कालयवन से श्रीकृष्णजी के बल और पराक्रम का वर्णन किया था; और उनके परिचय के हेतु उनके रूप का भी वर्णन कर दिया था। कालयवन ने आकर उनका रूप उस वर्णन के अनुसार लक्ष्य कर उन्हें श्रीकृष्ण समझा। अतएव श्रीकृष्णावतार का चतुर्भुज-मूर्ति होना इसके द्वारा भी प्रमाणित होता है।

पुनः उस अध्याय के १६ श श्लोक में उल्लिखित है कि, जब भगवान् के साथ मुचुकुन्द-गुहा में प्रविष्ट होने पर काल-यवन ने मुचुकुन्द की निद्रा भङ्ग की, तो उन (मुचुकुन्द) के क्रुद्ध होकर दृष्टिपात करने पर कालयवन तत्क्षण ही भस्मीभूत होगया। अनन्तर भगवान् ने मुचुकुन्द को दर्शन दिए, और मुचुकुन्द ने चतुर्भुज विशिष्ट-रूप ही में उनके दर्शन किये ("चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया")।

पुनः दशम स्कन्ध के ६० वें अध्याय में उल्लिखित है कि, जब भगवान् ने कौतुकवश रुक्मिणी को निज अनुरूप अन्यपति वरण करने को कहा था, तब रुक्मिणी रुदन करती करती इतनी क्षीणा और शक्तिहीना हो गई कि उसकी देह अकस्मात्

पृथ्वी पर गिर पड़ी। तब भगवान् ने अपनी चारों भुजाओं से उसको उठा कर उसका मुख पोंछा। यथा:—

"पर्य्यंकादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः।

केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना ॥२५॥

पुनः दशम स्कन्ध के ८६ अध्याय में उल्लिखित है कि, मिथिला में श्रुतदेव नामक ब्राह्मण के घर में मुनियों के संग मिलकर भगवान् ने आतिथ्य ग्रहण किया था। तब उस ब्राह्मण को निर्देश कर कहा था कि:—

"न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।

सर्वदेवमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥५४॥"

अर्थात् मेरी यह चतुर्भुज मूर्ति भी ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं है, कारण ब्राह्मण सर्वदेवमय हैं और मैं भी सर्वदेवमय हूँ ॥५४॥

श्रीमद्भागवत के अन्य स्थलों में भी भगवान् का चतुर्भुज होना वर्णित है; यथा:—प्रथम स्कन्ध के ६ म अध्याय के २४ वें श्लोक में। दशम स्कन्ध के १३ वें अध्याय में उल्लिखित है कि, श्रीकृष्णजी की परीक्षा लेने के हेतु, ब्रह्मा ने गोपालगण और गोवत्सादि का हरण किया था; किन्तु भगवान् ने स्वयम् गोपाल और गोवत्सादि के रूप धारण कर उनके हरण व्यापार को प्रकटित नहीं होने दिया। एक वर्ष के पश्चात् ब्रह्मा ने आकर देखा कि, अपहृत गोवत्सादि पूर्ववत् वर्तमान हैं और उन्होंने ध्यान से देखा कि, वे सभी चतुर्भुज-विशिष्ट हैं;

ऐसा देख कर उन्हें ज्ञात हुआ कि, यह सब रूप कृष्ण ही ने धारण किये हैं। यह वर्णन भी श्रीकृष्णजी के चतुर्भुजत्व का एक प्रमाण है। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि, भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्भुजविशिष्ट मनुष्य-रूपधारी थे। श्रीमद्भागवत में अथवा अन्य किसी प्रामाणिक ग्रंथ में अब तक मैंने ऐसा कोई प्रमाण नहीं देखा कि, जिसमें उल्लिखित हो कि, भगवान् ने अवतार ग्रहण के पश्चात् पहले द्विभुज रहकर फिर किसी समय से चतुर्भुजविशिष्ट होकर अपने को प्रकाशित किया। यह सत्य है कि, भागवत के दशमस्कन्ध में किसी किसी स्थल पर विशेष विशेष कार्य्य के वर्णन करते समय द्विभुज ही के कार्य्य का उल्लेख है, किन्तु उनके द्वारा पूर्वोक्त स्थल-समूह में जो चतुर्भुजत्व वर्णित है, उसके साथ वास्तव में इसका कोई विरोध नहीं होता। जिन स्थलों में द्विबाहु के कार्य्य का वर्णन मुझे स्मरण होता है, वे नीचे उद्धृत किये जाते हैं। यथा:—

दशम स्कन्ध के षष्ठाध्याय के १०म श्लोक में उल्लिखित है कि, जब पूतना ने बालकरूपी भगवान् को गोद में लेकर अति शक्तिशाली हलाहल से प्रलिप्त स्तन को उनके मुख में दिया, तब "गाढ़ं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत्।" (अर्थात् भगवान् ने क्रोधित होकर अपने दोनों हाथों से पूतना के दोनों स्तनों को निष्पेशित कर उसके प्राणों के साथ उसे पी लिया।)

इस स्थल में स्तनद्वय पेशित करने के हेतु दो ही हाथों की आवश्यकता थी। अतएव श्लोक में द्विवचनान्त "कराभ्याम्" पद के उल्लेख रहने से यह प्रकाशित नहीं होता कि भगवान् के दो से अधिक हाथ न थे। अतएव चतुर्भुज होने के विषय में अन्यान्य श्लोक जो भागवत से उद्धृत किये गये हैं, उनके साथ इसका कोई विरोध नहीं है।

इसी भाँति दशमस्कन्ध के अष्टमाध्याय के १५ वें श्लोक में उल्लेख है कि,:—

"कालेन व्रजता तात गोकुले रामकेशवौ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिंगमानौ विजह्रतुः॥"

अर्थ:—शिशु राम और कृष्ण कालक्रम से वृद्धि-लाभ करने लगे; और कुछ दिनों के पश्चात् दोनों हाथों और दोनों पैरों के बल रेंग कर गोकुल में विहार करने लगे।

जिन जिन स्थलों में भगवान् की चतुर्भुज मूर्ति प्रतिष्ठित है वहाँ देखने में आता है कि, प्रत्येक स्कन्ध में अग्रपश्चात् भाव से दो दो बाहु संलग्न हैं। घुटनु के बल चलने में अग्रस्थित दो हाथों ही की आवश्यकता पड़ती है; इसमें चारों हाथों के व्यवहार का प्रयोजन नहीं। अतएव इस वर्णन-द्वारा उनके चतुर्बाहुत्व के वर्णन का कोई विरोध नहीं है।

ऐसे ११श अध्याय के २८ श श्लोक में उल्लिखित है कि, कंस-प्रेरित बकासुर जब श्रीकृष्णजी पर आक्रमण करने आया

तब उन्होंने अपने दो हाथों से उसकी दोनों चोंचों को खींचकर उसे विदीर्ण किया।

"तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां वकं कंससखं सतांगतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद्दिवौकसाम् ॥"

दो चंचुओं को विदीर्ण करने के हेतु दो से अधिक हाथों के व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं होती। अतएव इसके द्वारा उनके चतुर्भुजत्व की खर्वता नहीं होती।

चतुर्दश अध्याय (ब्रह्माजी की स्तुति) के प्रथम श्लोक में उल्लिखित है कि, स्तुति के समय भगवान् दधि-मिश्रित-अन्न, वेत्र (बेंत), शृंग, वेणु इन सभों से विभूषित थे। ("कवलवेत्र-विषाणवेणुलक्ष्मश्रिये)" ये सब हाथ ही में रहने की वस्तु हैं, और हाथ ही में थे ऐसा प्रतीत होता है। अतएव इस वर्णन से यह नहीं बोध होता कि, उनके केवल दो ही हाथ थे; वरन् चार हाथ थे; कारण, चार वस्तुओं के उपस्थित रहने से चार हाथों की विद्यमानता प्रतीत होती है।

पुनः २३ वें अध्याय के १६ श श्लोक में वर्णित है कि, ब्राह्मण स्त्रियों ने श्रीकृष्णजी के हेतु आहार्य्य वस्तुसमूह सङ्ग में ले जाकर देखा कि, वे पार्श्वस्थित सखा के स्कन्ध पर एक हाथ रखकर खड़े हैं और दूसरे हाथ में एक कमल लिये उसे घुमा रहे हैं, इत्यादि। इसके द्वारा भी जिन दो हाथों से जो दो

विशेष कार्य्य करते रहे, उन्हीं का वर्णन है। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि और दो हाथ नहीं थे। अतएव अन्यान्य श्लोकों द्वारा जो चतुर्भुजत्व स्पष्टरूप से वर्णित है, इस स्थल में इस उक्ति-द्वारा उसका खण्डन नहीं होता। दोनों उक्तियों में पारस्परिक सामञ्जस्य है। अन्यत्र चतुर्भुजत्व की उक्ति न होने से ये सब उक्तियाँ द्विभुजत्व ही की ज्ञापक अवश्य होतीं।

फिर २६ वें अध्याय के ३६ वें श्लोक को उद्धृत करता हूँ। जो लोग भगवदवतार के द्विभुजत्ववादी हैं वे इसी श्लोक के आधार पर सम्भवतः सबसे अधिक अपने मत को निर्भर करते हैं। इस अध्याय में वर्णित है कि, श्रीकृष्णजी की वंशी-ध्वनि सुन, उनके साथ विहार के हेतु कामार्ता हो, गृह से निकल गोपिकागण के वन में उनके समीप गमन करने पर, भगवान् ने उन्हें पहले घर लौट जाने का उपदेश किया। तब गोपियों ने नके प्रति अपना गम्भीर प्रेम और उनसे आलिङ्गित होने की दृढ़ कामना प्रदर्शित करते हुए जिन सब वाक्यों का प्रयोग किया था, उनमें एक वाक्य ऐसा भी है:—

"वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुंडलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षःश्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः" ॥३९॥

अर्थः—हे प्रिय! तुम्हारा यह अलकावृत सुन्दर मुख, तुम्हारे उज्ज्वल कुण्डलविशिष्ट कपोलद्वय, और सुधा-सम-

न्वित अधर, सहास्य अवलोकन, और अभयदानकारी भुजद्वय तथा लक्ष्मीजी के भी वांछित वक्षःस्थल के दर्शन कर हम लोग तुम्हारी दासी हुई हैं।

इस स्थल में "दत्ताभयश्च भुजदण्डयुगम्" (अभयदानकारी दो भुजायें) पद का प्रयोग है, यह सत्य है। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि, इस स्थल में भगवान् के सम्पूर्ण अंगों का वर्णन करना ग्रंथकार तथा गोपियों का अभिप्राय नहीं था। उनके जो जो अंग, गोपियों के चित्त को विशेष रूप से आकर्षित किये थे, गोपिका उन्हीं का वर्णन करती हैं। गोपिका-गण भगवान् से आलिंगित होने की कामना करती थीं। अग्रवर्ती दो ही भुजाएँ आलिंगन कार्य्य के लिए विशेष-रूप से उपयोगी हैं। अतएव गोपिकाएँ उन सम्मुखवर्ती दोनों भुजाओं के प्रति लक्ष्य कर कहती हैं कि, तुम्हारी सुन्दर दो भुजाएँ हम लोगों को इस प्रकार से अभयदान करती हैं कि, हमको तुम्हारा आलिङ्गन अवश्य प्राप्त होगा। यहाँ पश्चाद्भाग की दो भुजाओं का वर्णन न होने से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि, वे दोनों भुजाएँ नहीं थीं; भगवान् के पृष्ठ-देश का उन लोगों ने कोई वर्णन नहीं किया है, इससे जैसे यह सिद्ध नहीं किया जाता कि उनका पृष्ठ-भाग नहीं था, वैसे ही अन्य स्थलों में वर्णित उनके चतुर्भुजत्व का निषेध भी इस श्लोक के द्वारा नहीं होता।

द्विबाहु का उल्लेख जिन जिन स्थलों में मैंने लक्ष्य किया

है, प्रायः वे सभी श्लोक यहाँ वर्णित हुए हैं। मुझे यह प्रतीत होता है कि, यदि द्विबाहुत्व और चतुर्बाहुत्व संबंधी पूर्वोद्धृत प्रमाणसमूह को एकत्रित कर उस पर विचार किया जाय तो यह सिद्ध होता है कि, भगवान् चतुर्बाहुविशिष्टरूप से अवतीर्ण हुए थे।

श्रीमद्भागवत के १० म स्कन्ध के तृतीय अध्याय में उल्लिखित है कि, जन्मग्रहण के समय भगवान् ने अपने माता-पिता को निज चतुर्भुज तथा शंखचक्रादि अस्त्रविशिष्ट, अलौकिक दिव्य-मूर्ति प्रदर्शित किया था। तब उनके माता-पिता ने नारायण मूर्त्ति में उनके दर्शन कर पहले उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् उनसे उस अलौकिक मूर्ति को संवरण कर लेने की प्रार्थना की, इस पर उन्होंने उसे संवरण कर अपने माता-पिता के समक्ष ही प्राकृत शिशुरूप धारण किया, ("पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः" ॥४६॥)—साधारण मनुष्य-रूप अवश्य ही द्विभुजविशिष्ट होता है। यदि अन्य स्थलों में उनका चतुर्भुज-रूपी होना सुस्पष्ट-रूप से उल्लिखित न होता, तो इस श्लोक के द्वारा यही समझा जाता कि, साधारण मनुष्य की भाँति द्विभुजधारी बालकरूप उन्होंने धारण किया था। किन्तु पूर्वोद्धृत श्लोकसमूह में उनका चतुर्भुज-विशिष्ट मनुष्यदेह धारण करना सुस्पष्ट रूप से उल्लिखित रहने के कारण, यही सिद्ध होता है कि, उन्होंने चतुर्भुज-विशिष्ट मनुष्यरूप धारण किया था। ब्रह्म-पुराण का जो

श्लोक पहले उद्धृत किया गया है उसमें "चतुर्बाहुधरं नरम्" (चतुर्बाहु-विशिष्ट मनुष्य) शब्द स्पष्टरूप से व्यवहृत हुआ है। श्रीमद्भागवत में भी इसके अनुरूप जो श्लोक हैं वे भी उद्धृत किये जा चुके हैं। वास्तव में यदि कोई मनुष्य-बालक चतुर्हस्त-विशिष्ट होकर जन्मग्रहण करे तो वह मनुष्य न कहा जायगा, ऐसा नहीं है। महाभारत के सभापर्व के ४३ वें अध्याय में लिखा है कि, शिशुपाल ने चतुर्भुज और त्रिनेत्र होकर जन्म लिया था। मनुष्यदेहविशिष्ट होकर जन्म ग्रहण करने के कारण, चतुर्भुज तथा त्रिनेत्र रहने पर भी, उसकी गणना मनुष्यश्रेणी में ही थी। अद्यापि देखने में आता है कि, कोई कोई मनुष्य २२ अंगुलि-विशिष्ट होते हैं (साधारण मनुष्य के २० ही अँगुलियाँ होती हैं)। केवल एक या दो अंगुलियों की अधिकता के कारण वे मनुष्यश्रेणी से पृथक् नहीं माने जाते। इसी भाँति कोई नासिकाविहीन होते हैं, किसी के केवल एक ही कान होता है, इत्यादि। मैंने बाल्यकाल में किसी समाचार-पत्र में पढ़ा था कि, चीन देश में एक ऐसा अद्भुत बालक उत्पन्न हुआ था, कि जिसके २ शिर, ४ पैर तथा ४ भुजाएँ थीं। वह अल्पकाल जीवित रह कर मर गया था। प्रकृति के इस प्रकार के विकार अनेक स्थलों में दृष्ट होते हैं, उससे मनुष्यत्व की कोई हानि नहीं होती। लीलासंवरण कर भगवान् के वैकुंठगमन करने पर, युधिष्ठिर महाराज ने भी स्वर्गगमनानन्तर ऋषि-गणों के

साथ वहाँ जाकर उन (भगवान्) के जिस भाँति दर्शन किये, वह महाभारत के स्वर्गारोहणपर्व के चतुर्थ अध्याय में निम्न प्रकार से उल्लिखित है:—

"ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ।
तेनैव दृष्टपूर्वेण सादृश्येनैव सूचितम् ॥२॥
दीप्यमानः स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥३॥"

अर्थात् युधिष्ठिर ने वहाँ पूर्व रूप के साथ सादृश्य के द्वारा सूचित ब्राह्म-शरीरयुक्त गोविन्द के दर्शन किये। तब वे ब्राह्म-शरीर के (तेज के) द्वारा दीप्यमान थे, चक्र-प्रभृति घोरतर दिव्य जीवन्त पुरुषविग्रह-समूह उनकी उपासना करते थे ॥२,३॥

अवतारकाल में उनका मनुष्य शरीर था, अब उनका शरीर ब्राह्म हो गया है। किन्तु उभय शरीर की आकृतियाँ एक ही प्रकार की थीं। इसी आकृति का सादृश्य देखकर युधिष्ठिर ने उन्हें पहिचाना था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि, उनकी तात्कालिक आकृति चतुर्भुजविशिष्ट थी। कारण, यह सब शास्त्रों में वर्णित है कि, नारायण चतुर्भुज-विशिष्ट तथा चक्रादि आयुधधारी हैं; और अपने इसी अलौकिक चतुर्भुज-विशिष्ट दिव्यरूप को जन्मकाल में अपने माता-पिता को उन्होंने पहले प्रदर्शित किया था। अपरापर अनेक

पुराणों में भी कृष्णावतार को चतुर्भुज विशिष्ट कह कर वर्णन किया है। परन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण की वर्णना अन्य पुराणों से विभिन्न प्रकार की है। कृष्णलीला-संबन्धिनी सभी आख्यायिकायें इस पुराण में अन्यान्य पुराणों से विभिन्न प्रकार से वर्णित हैं। इस पुराण में इस प्रकार उल्लिखित है कि, श्रीकृष्णजी ने जब देवकी के गर्भ से आविर्भूत होकर पहिले वसुदेव और देवकी को दर्शन दिये, तब वे द्विभुज मुरलीधररूप में ही विराजमान थे; और उन लोगों ने उन (श्रीकृष्ण) की स्तुति की; और वहाँ यह भी वर्णित है कि, गोलोक तथा गोकुलस्थ वृन्दावन नामक वन में भगवान् द्विभुज रूप ही में गोपाल और गोपियों के साथ राधापति के रूप से नित्य विराजमान रहते हैं। गोलोक में गोलोकाधिपति रूप में श्रीकृष्ण जो द्विभुज मुरलीधारी हैं इस संबन्ध में अन्यान्य पुराणों के मत के साथ कोई विरोधभाव प्रकाशित नहीं होता। कारण, उस सम्बन्ध में अन्यान्य पुराणों में मैंने कोई विरुद्धवर्णन नहीं देखा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, उस पुराण में उक्त प्रकार का वर्णन इस अभिप्राय से हुआ है कि, जिन सब भक्त-साधकों को उस द्विभुज मूर्ति का ही ध्यान अनुकूल और प्रिय है, उनके हेतु पृथ्वीस्थ वृन्दावन में भी गोप-गोपियों के साथ द्विभुज मुरलीधर रूप ही में श्रीकृष्णजी का ध्यान करना श्रेयस्कर है। भगवान् द्विभुजरूप से वृन्दावन में नित्य विराजमान हैं, ऐसा कहने का तात्पर्य्य यह है कि, उनका इसी रूप

में ध्यान करना उचित है; कारण, साधारण लोगों की दृष्टि में वहाँ नित्य विद्यमान नहीं हैं, तथा अवतार-काल में भी वहाँ वे नित्य विद्यमान नहीं थे।

अतएव इन समस्त ग्रंथों की आलोचना करने से हमारा यह सिद्धान्त हुआ है कि, लीलाकाल में भगवान् का अवतार चतुर्भुज-विशिष्ट था। वास्तव में अवतार के चतुर्भुज-विशिष्ट होने पर भी, द्विभुज रूप में उनका ध्यान किसी प्रकार से असङ्गत नहीं, वरन् संगत ही है। किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि, जो लोग उनकी चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करते हैं, उनका ऐसा ध्यान करना भी संगत है।*

---

* उपरोक्त प्रश्नोत्तर लिखाने के पश्चात् एक मित्रप्रेरित पद्मपुराण के उत्तर-खण्ड में वर्णित 'श्रीकृष्णलीला' को पाठ कर मैंने देखा कि, उसमें लिखित है कि, भगवान् ने देवकी के गर्भ से पहले चतुर्भुज रूप में जन्म ग्रहण किया था; पश्चात् वसुदेव की प्रार्थना से उन्होंने द्विभुज मनुष्यरूप धारण किया और वसुदेव ने उन्हें ले जाकर नन्दगृह में पहुँचा दिया। पद्मपुराण के इस अंश को पढ़ने से यह ज्ञात नहीं होता कि, भगवान् ने पीछे कभी चतुर्भुज रूप धारण किया था। पक्षान्तर में यही प्रतीत होता है कि, देह-त्याग-पर्य्यन्त वे द्विभुज-विशिष्ट ही थे। उपरोक्त उत्तर-खण्ड के २५२ अध्याय में लिखित है कि, व्याध ने उनके चरण को विद्ध करने के पश्चात् जब उन्हें पहचाना तब उनके चरणों पर गिरकर श्रीकृष्णजी से अपराध-क्षमा के हेतु उनकी स्तुति की। तब ("सुधामयकराभ्यां तमुत्थाप्य भवता नापराधं कृतम्") उसको अपने सुधामय करद्वय के द्वारा उठाकर उन्होंने कहा कि, तुमने कोई अपराध नहीं किया है। इस प्रकार से व्याध को आश्वासन दे श्रीकृष्ण

और एक विषय के इस स्थल में वर्णन करने की आवश्यकता है। चतुर्भुजत्व और द्विभुजत्व के विषय में भी बहुतेरे लोग अंशांशी विचार में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु अवतार के विषय में कौन अंश है और कौन अंशी, यह सब विचार अज्ञान-प्रसूत ही समझना। मैंने पहिले ही तुम्हें नाना प्रकार से समझाया है कि, ब्रह्म एक छोड़ दो नहीं है। वह सदैव पूर्णस्वरूप तथा सर्वशक्तिमान् है। उसकी भिन्न भिन्न शक्तियों ही का प्रभेद है, और वही शक्ति अनन्त जगत् के

जी ने उसे वैष्णव लोक में प्रेषित किया। तत्पश्चात् दारुक के उपस्थित होने पर उसके द्वारा अर्जुन को अपने समीप बुलवाया, और अर्जुन से कहा कि, मैं निजधाम को जाता हूँ, अतएव तुम द्वारावती में जाकर रुक्मिणीप्रभृति अष्ट महर्षियों को वहाँ से लाकर मेरी देह के साथ मिला देना। तब अर्जुन के दारुक के साथ द्वारावती में जाने पर ("कृष्णोऽपि मानुषं देहं सन्न्यस्य वासुदेवात्मकं देहं धृत्वा वैनतेयमारुह्य महर्षिभिः स्तूयमानो जगाम") श्रीकृष्ण स्वीय मनुष्य-देह त्याग कर तथा वासुदेवात्मक रूप धारण कर गरुड़ारोहण-पूर्वक ऋषियों-द्वारा स्तूयमान होते हुये प्रस्थित हुए।

इस ग्रंथ में श्रीकृष्णलीला जिस भाँति से वर्णित है, श्रीमद्भागवत प्रभृति के साथ अनेक स्थलों में उसका बहुत ही पार्थक्य है; और इसको पढ़ने से स्पष्टरूप से प्रतीत होता है कि, श्रीमद्भागवत तथा विष्णु-पुराण प्रभृति के पाठकों से (अनेक परिमाण से) कनिष्ठाधिकारी के पाठोपयोगी रूप से पद्मपुराण-रचित हुआ है। उनके हेतु साधारण द्विभुज मनुष्यरूप ही ध्यान के उपयुक्त समझ कर ग्रंथकार ने ऐसा लिखा है, और लीलासमूह के वर्णन में भी व्यतिक्रम किया है।

समष्टि तथा व्यष्टि रूप में प्रकाशित है। शक्ति चाहे कितनी ही क्षुद्र क्यों न हो, परन्तु वह, अनन्त, अपार, पूर्णब्रह्म ही की शक्ति है। प्रत्येक शक्ति उसी पूर्ण में प्रतिष्ठित रहकर विशिष्टरूप से प्रकाशित होती है। जैसे तुम्हारी दर्शन-श्रवणादि शक्तियाँ, (क्षुद्र हो अथवा प्रभूत हो) सम्पूर्ण रूप से तुम्हीं में आश्रित हैं, इनके द्वारा निष्पन्न प्रत्येक कार्य्य सम्पूर्ण रूप से तुम्हारा ही कार्य्य है, वैसे ही प्रत्येक विशिष्ट रूप का प्रकाश पूर्णब्रह्म ही का प्रकाश है। प्रत्येक विशिष्ट रूप के आश्रय रूप में पूर्णब्रह्म ही विद्यमान है। अतएव कौन अंश है और कौन पूर्ण, यह समस्त विचार

पुराणसमूह के वर्णन में इस भाँति के अनैक्य होने के कारण, वर्तमान उपासकसम्प्रदायसमूह में भी इस विषय में नाना प्रकार का मतभेद है। इन सब मतों में अपनी कल्पना का आश्रय न लेकर, केवल ग्रंथोक्त स्पष्ट वर्णन के आधार पर निर्भर रह सामञ्जस्य (एकता) स्थापित करना अति कठिन है। इस पर भी यदि ऐसी कल्पना की जाय कि, व्रज में रहने के समय भगवान् द्विभुज रूप से प्रकाशित हुए थे, तथा मथुरा में आने के पश्चात्, जरासन्ध के साथ संग्राम उपस्थित होने पर, उन्होंने चतुर्भुज रूप धारण किया था, और तब से वे चतुर्भुज रूप ही में विराजमान थे, तब तो विभिन्न मत के अधिकांश ग्रंथों में कुछ सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है। किन्तु अब तक मैंने जितने ग्रंथ देखे हैं, उनमें कहीं भी मुझे ऐसा वर्णन नहीं मिला। ऐसी घटना के वास्तव में घटित होने से भागवतादि पुराणों में इसका वर्णन न होने का कोई कारण अनुमित नहीं किया जा सकता।

वास्तव में अज्ञानजनित है। पुराणों के पाठ करने से विदित होगा कि, जब जिनकी स्तुति की गई है तब उन्हीं को पूर्ण-ब्रह्म, जागतिक सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्ता, जगदतीत तथा समष्टि और व्यष्टिभाव प्राप्त जगत् रूप से वर्णन किया है। यथा श्रीमद्भागवत के चतुर्थस्कन्ध के षष्ठाध्याय में ब्रह्मा ने महादेव को जगत् की सृष्टि, स्थिति, तथा प्रलय के हेतु, अद्वैत, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, परमब्रह्म, इत्यादि रूप से ३६ संख्यकादि श्लोकों में वर्णन किया है। चतुर्थस्कन्ध के सप्तदशाध्याय में पृथुराजा की स्तुति करते समय पृथ्वी ने इसी भाँति, गुणातीत, सृष्टि, स्थिति, तथा लय का कारण इत्यादि परब्रह्मरूप ही से उनकी व्याख्या की है। महाभारत में अश्विनीकुमारों की स्तुति में उनकी भी इसी प्रकार की स्तुति की गई है। यही सार सत्य है। समस्त वेदान्तवाक्य इसी सारतत्व के ज्ञापक हैं। ब्रह्म दो अमूर्तरूप से, तथा समष्टि और व्यष्टिभाव में अनन्त जगद्रूप से, युगपत् वर्तमान है। उपासना के निमित्त केवल एक एक रूप विशेषभाव से अवलम्बित होता है। जो जैसे अधिकारी हैं उनको उसी के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का उपदेश किया जाता है; यह विषय सदैव स्मरण रखना; ऐसा करने से शास्त्रग्रन्थ के पढ़ने में तुम भ्रम में नहीं पड़ोगे और न ग्रन्थोल्लिखित उपदेशसमूह में तुमको विरोध-भाव दिखाई देगा। ब्रह्म के जिस विशेष स्वरूप को जिनके समीप ऋषियों ने

उपास्य रूप से वर्णन किया है, उसी की व्याख्या उन्होंने पूर्ण-रूप से की है; और उस उपासक की भेद-बुद्धि रहने के कारण, उपास्य के प्रति उस (उपासक) की निष्ठा को दृढ़ीभूत करने के अभिप्राय से, उसके उपास्य के साथ तुलना में और सभों को अपेक्षा-कृत अल्पशक्ति-विशिष्ट तथा उनके उपासक कह कर वर्णन किया है।

विषयः—पुराणसमूह के वर्णन में अनैक्य के क्या कारण हैं ?

शिष्य—आपने कहा है कि, ब्रह्मवैवर्तपुराण में आख्या-यिकासमूह जिस भाँति वर्णित है उसके साथ अन्यान्य पुराणों के वर्णन में अनेक प्रभेद हैं। अन्यान्य पुराणों में भी इसी भाँति का पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है, इससे अनेक स्थलों में नाना प्रकार का सन्देह उपस्थित होता है; इन सब विभिन्नताओं के कारण जानने की अभिलाषा है।

गुरुः—पुराणों को ऐतिहासिक ग्रंथ न मानना चाहिये; इतिहासों और पुराणों में बड़ा अन्तर है। महाभारत और वाल्मीकि-रामायण इतिहास हैं, इनमें वर्णित घटनायें सब सत्य हैं; किन्तु पुराण तद्रूप इतिहास नहीं हैं। वेदान्त पढ़कर उसका यथार्थ तात्पर्य ग्रहण करने में सब समर्थ नहीं हैं; वेदान्तपाठ के अधिकारी सब नहीं हैं। अतएव वेदान्तोक्त ब्रह्मविद्या की साधारण अज्ञ लोगों के निकट सहज भाव से व्याख्या करने के उद्देश्य से पुराण रचित हुए हैं; पौराणिक

आख्यायिकायें प्रायशः ऐतिहासिक प्रसिद्ध घटनाओं के अवलम्बन से उन सब उपदेशों के अनुरूप रचित हुई हैं। यह सत्य है कि, स्वर्ग, प्रलय, मन्वन्तर, सृष्टिक्रम, राजवंशपरम्परा, तथा ब्रह्माण्ड और सर्व प्रकार के जीवों की उत्पत्ति और लय-प्रणाली इत्यादि सभी विषय पुराणों में वर्णित हैं; परन्तु इतिहास लिखने के अभिप्राय से इनका वर्णन नहीं हुआ है। ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण है, यही सर्वसाधारण लोगों को समझाने के अभिप्राय से ब्रह्म से इन सभों का क्रमानुसार प्रकाश विस्तृतरूप से वर्णित हुआ है। और साधकों की उपयुक्तता और मति के अनुसार, उनके हेतु श्रेयस्कर साधनप्रणाली तथा आचारप्रभृति की शिक्षा देने के निमित्त, कभी ऐतिहासिक आख्यान, कभी कल्पित उपाख्यान, कभी ऐतिहासिक आख्यान को परिवर्तित कर उसके साथ कल्पित आख्यान के संयोग-द्वारा, श्रुति तथा स्मृति के कथित उपदेशों को ग्रंथकार ने वर्णन किया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि, जिस प्रकार के पाठक तथा श्रोतासमूह के निमित्त जो ग्रंथ रचित हुए हैं उनकी आख्यायिकायें उन पाठकों के लिये उपयोगी करने के हेतु नाना रूप से संगठित की गई हैं। आख्यानसमूह में प्रभेद देखकर ग्रंथ के मूल उपदेश के संबन्ध में किसी भाँति का सन्देह मन में न लाना चाहिये। और जो आख्यायिकायें अनेक पुराणों में एक ही प्रकार से वर्णित हैं—विशेषतः महाभारत के साथ जिनका ऐक्य है—

साधारणतः वे सत्य ऐतिहासिक आख्यान करके ग्रहण करने के योग्य हैं।

कोई कोई पंडित कहते हैं कि, भिन्न भिन्न कल्पों की घटनाएँ भिन्न भिन्न पुराणों में वर्णित हैं, इसी कारण पुराणों में भेदभाव दृष्टिगोचर होता है। किसी किसी स्थल में ऐसा भी सम्भव है, परन्तु मैंने जिन पुराणों को देखा है, और जो सब पुराण आजकल प्रचलित हैं, उन सभों में इसी कल्प का विषय ही वर्णित है, ऐसा अनेक स्थलों में उल्लिखित है। अतएव पंडितों की पूर्वोक्ति द्वारा यह समस्त विरोध व्याख्यात नहीं होते।

और पुराणों में कल्पित उपाख्यान रहने के विषय किसी किसी पुराणों में भी स्पष्टरूप से ही वर्णित हैं, और पुराण-रचना का उद्देश्य मैंने जैसा कहा है, वैसा ही होना भी बहुत स्थलों में उक्त है। यदि ग्रंथों को आद्योपान्त स्थिरचित्त होकर पाठ किया जाय तो तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में जैसा मैंने कहा है, वैसा ही अनुमान-द्वारा भी सिद्ध होता है।

विषयः—गौराङ्ग-देव के सम्बन्ध में आपका अभिमत क्या है?

शिष्यः—गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव लोग चैतन्यदेव को भगवान् का अवतार कहकर वर्णन करते हैं और वे ऐसे सिद्धान्त रखते हैं कि, चैतन्यदेव सर्वश्रेष्ठ अवतार तथा उपास्यदेव हैं। इस विषय में आपका अभिमत क्या है?

गुरु:—मैं चैतन्यदेव को पूर्णब्रह्म के साथ एक ही कह कर जानता हूँ। जो लोग पूर्णब्रह्म रूप से उनकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना ब्रह्म की ही उपासना है। चैतन्यदेव की प्रकाशित शक्ति लक्ष्य करने से भी प्रतीत होता है कि, उनमें जो शक्ति तथा प्रेमशक्ति प्रकट हुई थीं, वे अति अद्भुत थीं। बङ्गदेश विशेषरूप से उनका ऋणी है। वर्तमानकाल में वे ही वङ्ग देश में वैष्णव-धर्म-प्रचार के मूल हैं। वङ्गदेश में उनका भक्ति-प्रचार-कार्य एक प्रकार का अवतारकार्य्य ही कहा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि, ऐसे पुरुष की जो ब्रह्मबुद्धि में उपासना करेंगे उनकी श्रेष्ठ गति होगी। सर्वत्र ब्रह्म-बुद्धि स्थापित करना ही हम लोगों का धर्म है। जो कोई मनुष्य जिस किसी निर्मल-पुरुष की ब्रह्म-बुद्धि से उपासना करते हैं, उनके साथ हम लोगों को कोई विरोध नहीं है। परन्तु चैतन्यदेव को अवतार प्रमाणित करने के हेतु जो सब शास्त्रीय प्रमाण दिये जाते हैं, उन प्रमाणों को मैं समीचीन नहीं समझता। इस विषय की आलोचना निष्प्रयोजन है। परन्तु भगवदवतार असंख्य है ("अवतारा ह्यसंख्येया:"), सब अवतारों के संबन्ध में शास्त्रीय प्रमाण सदैव मिलना दुष्कर है। उन प्रमाणों के न मिलने से यह सिद्ध नहीं कर लेना चाहिये कि, वे अवतार नहीं थे। किस देह में किसका जन्म हुआ है, यह दिव्य-दर्शी ऋषिगण ही जान सकते हैं। बाह्य अलौकिक योगैश्वर्य्य किसी में दृष्टिगोचर होने पर भी उसका

अवतारत्व अवधारित नहीं होता। विश्वामित्रादि ने ब्रह्मवित् होने के पूर्व ही जिन सब अलौकिक योगैश्वर्य्य को प्रकाशित किया था उनका कुछ कुछ वर्णन मैं ने पहिले ही किया है, उनके समान अलौकिक-शक्तियाँ भी आज-कल कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती हैं। अतएव इन सब योगैश्वर्य के होने अथवा न होने के आधार पर भी किसी का अवतारत्व अथवा अनवतारत्व अवधारित करना संगत नहीं है। परन्तु अवतार हो अथवा न हो, यथार्थ महापुरुषों की उपासना से अशेष प्रकार का कल्याण-लाभ होता है। तुम्हारे प्रश्न के संबन्ध में मुझे इतना ही कहना है।

विषयः—श्रीकृष्णजी की देह पाञ्चभौतिक थी, अथवा नहीं ?

शिष्यः—यह सब प्रश्नोत्तर लिखते समय मैं उपस्थित नहीं था; परन्तु यह पढ़ कर मेरे हृदय में अवतार-सम्बन्धी एक प्रश्न उपस्थित हुआ है; वह यह है:—भगवान् ने जब मनुष्यलोक में अवतार ग्रहण किया था तब उनकी देह साधारण मानवदेह से, यहाँ तक कि जीवन्मुक्त पुरुषों की देह से भी, विभिन्न प्रकार की थी; यह तो आपके उत्तर को पढ़ने से मैंने समझा है। तथापि मेरी जिज्ञासा यह है कि, यह देह मनुष्य-देह के उपकरण ही से गठित है अथवा नहीं ? शास्त्र पढ़ने से ज्ञात होता है कि, इस देह के बाल्यादि अवस्थाभेद और क्रमशः वृद्धि-ह्रास मनुष्यदेह की

भाँति ही हुये हैं। महाभारत के अनुशासनपर्व्व के १५९ अध्याय में उल्लिखित है कि, भगवान् ने कुछ दिन पर्यन्त दुर्वासा ऋषि की सेवा की थी; पश्चात् एक दिवस दुर्वासा ऋषि को आहार के हेतु अति उष्ण पायस देने पर, उन्होंने क्रुद्ध होकर जब भगवान् से उस उष्णपायस को अपने अङ्ग में लेपन करने का आदेश किया, तो भगवान् श्रीकृष्ण ने मस्तक से पदपर्य्यन्त स्वीय अङ्ग में उस उच्छिष्ट पायस का लेपन करना आरम्भ किया; इसी समय दुर्वासा ऋषि ने निकट दण्डायमाना रुक्मिणी देवी के अङ्ग में भी अपने हाथ ही से उस पायस को लेपन किया; इस पर भी सन्तुष्ट न हो भगवान् के सम्मुख ही रुक्मिणी देवी को अश्व की भाँति एक रथ के सङ्ग जोड़कर हाथ में बेत लेकर तथा रथ में आरूढ़ होकर वे राज-पथ में बहिर्गत हुए। देवी रुक्मिणी के उस रथ को भली भाँति खींचने में अशक्य होने पर, वे क्रुद्ध होकर रथ से उतर दूसरी ओर चलने लगे। इस व्यापार से भगवान् कुछ भी क्रोधित न हुए, वे दुर्वासा ऋषि के पीछे पीछे उन्हें बुलाने के हेतु भागे, और रथ मैं स्वयं खींचूँगा यह कह कर भगवान् ने उनको लौटने की पुनःपुनः प्रार्थना की। उनके इस अद्भुत भाव को देखकर ऋषि ने अति प्रसन्न होकर कहा, "वासुदेव! यथार्थ में तुम्हीं ने क्रोध को जय किया है; मैं तुमको अब यह वर देता हूँ कि, मेरा प्रसादी पायस तुम्हारे शरीर के जिन जिन स्थानों में लिप्त हुआ है, वे समस्त

अङ्ग सर्व प्रकार के अस्त्रों से अभेद्य होंगे, और तुम्हारे शरीर में सदैव युवाभाव स्थिर रहेगा......इत्यादि।" भगवान् ने अपने पदतल में पायस का लेप नहीं किया था, यह देखकर ऋषि ने दुःख प्रकाश किया। तत्पश्चात् रुक्मिणी देवी को भी सदैव स्थिरयौवना रहने का तथा अन्यान्य वर प्रदान कर ऋषि प्रस्थित हुए। इस वर-प्राप्ति के पश्चात् उन दोनों के शरीर अतिपुष्ट और श्रीसम्पन्न हो गये। भगवान् ने जब लीलासंवरण किया था, तब उनका पाद-तल ही व्याध के शर से विद्ध हुआ था। इस वर्णन के पढ़ने से तो यही स्थिर होता है कि, भगवद्देह भी मनुष्य-देह ही के समान थी। अतएव इस देह को कैसे नित्य तथा अमानुषदेह कह सकते हैं? श्रीकृष्ण ने जब लीला-संवरण किया तब उनकी देह का क्या हुआ, इस सम्बन्ध में भी श्रीमद्भागवत के वाक्यसमूह का अर्थ असन्दिग्ध नहीं प्रतीत होता। अतएव इन सब विषयों में आपके उपदेश के जानने की अभिलाषा करता हूँ।

गुरुः—गोलोकाधिपति भगवान् का स्वकीय-रूप अतिशय प्रभायुक्त है, सूर्य्य की अपेक्षा भी अधिक प्रभायुक्त है, यह मनुष्य के चर्मचक्षु द्वारा दर्शनीय नहीं है; भगवान् अपने जिन भक्तजनों को दिव्य-चक्षु प्रदान करते हैं, वे ही दर्शन करने में समर्थ होते हैं। मर्त्य मनुष्यलोक में मनुष्यों के दर्शन-योग्य होकर वे मनुष्यवत् कार्य्य साधित करने के निमित्त ही अवतार ग्रहण करते हैं; सुतरां इसमें कोई सन्देह नहीं कि,

वे जो देह धारण करते हैं वह मनुष्यजातीय देह होती है। अतएव दूसरी मनुष्य-देह की भाँति उनकी देह में भी बाल्यादि अवस्था-भेद होता है, एवं इसी कारण दुर्वासा ऋषि के वर भी उसी में फलित हुए थे।

देवकी के गर्भ से जन्म ग्रहण कर, वसुदेव और देवकी में यह विश्वास उत्पन्न कराने के निमित्त कि वे अवतीर्ण हुए हैं, जब भगवान् ने प्रथमतः उन्हें स्वकीय रूप का प्रदर्शन कराया, तब उन दोनों ने कंस के भय के कारण भगवान् से स्तुति कर इस रूप को संवरण कर लेने की प्रार्थना की। इस पर भगवान् ने वर्णन किया कि, उन (दोनों) के पूर्वजन्म-कृत तपस्या से प्रीत होकर उनकी प्रार्थना के अनुसार उनका पुत्रत्व ग्रहण करना स्वीकार कर उनके पूर्व्व के दो जन्मों में यज्ञ तथा वामन नामक पुत्र रूप से वे अवतीर्ण हो चुके हैं। यथा:—श्रीमद्भागवत–१० स्कन्ध, ३ अ०

एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥४४॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥४५॥

अर्थात्—यही स्मरण कराने के निमित्त कि, तुम लोगों के पूर्वजन्म में मैंने ही तुम्हारे पुत्ररूप से जन्म ग्रहण किया था, मैंने तुमको यह रूप प्रदर्शित किया है। कारण, मर्त्य

मानवदेह धारण कर प्रकाशित होने पर, मैं ही अवतीर्ण हुआ हूँ, इस विषय का ज्ञान नहीं हो सकता (तुम लोग यह जान नहीं सकते) ॥४४॥

तुम लोग ब्रह्मबुद्धि में मेरा भजन करो अथवा स्नेह के साथ पुत्ररूप में ही मेरी चिन्ता करो, इसी में तुम परम-गति को प्राप्त होगे ॥४५॥

यह कह कर उन्होंने मनुष्यदेह धारण किया,

इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव **प्राकृतः शिशुः** ॥४६॥

अर्थात्:—यह कह कर भगवान् विरत हुए और माता-पिता के समक्ष हो (प्राकृत) मनुष्य-शिशु हो गये ।४६।

अतएव भागवतकार ने तो स्पष्टरूप से कहा है कि, भगवान् "मनुष्य-शिशु" हो प्रकाशित हुए।

लीलासंवरण के समय उन्होंने जो इस देह का परित्याग किया था, यह विषय पुराण-शास्त्रों के बहुतेरे स्थलों में उल्लिखित है।

ब्रह्मपुराण में उल्लिखित है कि:—

त्यक्त्वा स मानुषं देहमवाप त्रिदशां गतिम् ॥१२॥अ०२११॥
अर्जुनोऽपि तदान्विष्य कृष्णरामकलेवरं।
संस्कारं लम्भयामास तथान्येषामनुक्रमात् ॥१॥ अ०२१२॥

अर्थात्—**मनुष्यदेह त्याग कर भगवान्** दैवीगति को प्राप्त हुए ।।१२।।

राम, कृष्ण और अपरापर यादवों के कलेवरों का अन्वेषण कर, अर्जुन ने उनका संस्कार कराया ।

विष्णुपुराण में भी उक्त विषय ठीक इसी भाषा में वर्णित है। विष्णुपुराण के पञ्चमांश के ३७ अ० के अन्तिम श्लोक तथा ३८ वें अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों को देखना। ब्रह्मवैवर्तपुराण के १२९ अ० के ६२ वें श्लोक में भी भगवान् के देहपरित्याग का विषय वर्णित है। स्कन्ध पुराणादि में भी ऐसे हो उल्लिखित हैं। श्रीमद्भागवत के अनेक स्थलों में भगवान् के अवतार-कलेवर त्याग करने का विषय वर्णित है। यथा तृतीय स्कन्ध के ४ र्थ अध्याय में लिखित है:—

श्रीशुक उवाच ।

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।
संहृत्य स्वकुलं स्फीतं **त्यक्ष्यन् देहम**चिन्तयत् ।।२९।।

× × × × ×

विदुरोऽप्युद्धवात् श्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।
क्रीड़योपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ।।३३।।

देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्य्यवर्द्धनम् ।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम् ।।३४।।

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम्।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥३५॥

अर्थात्, श्रीशुकदेवजी ने कहाः—

ब्रह्मशाप को उपलक्ष कर अपने विस्तृत कुल को संहार करने के पश्चात् उन्हीं सत्यसंकल्प प्रभु ने निज देह को परित्याग करने के अभिलाषी होकर चिन्तन किया ॥२९॥

× × × × ×

लीला के निमित्त अपनी इच्छानुकूल (मानव) देहधारण-कारी परमात्मा श्रीकृष्णजी के श्लाघनीय कर्म-समूह का विषय, और धीरगणों के वैराग्यवर्द्धक, किन्तु पशुवत् विषय-लिप्त चञ्चलचित्त पुरुषों के हेतु भीति-जनक, उनके **देहत्याग** का विषय, और उनके उस समय विदुर को स्मरण करने का विषय, उद्धव के समीप श्रवण कर, उन (उद्धव) के गमन के पश्चात्, भगवान् का ध्यान करते हुए प्रेम-विह्वल-चित्त से विदुरजी रुदन करने लगे॥ ३३, ३४, ३५ ॥

भागवत के श्रोता परीक्षित की कई एक उक्तियाँ निम्नोद्धृत की जाती हैं :—

श्रीमद्भागवत ३ स्कन्ध ४ अध्यायः—

श्रीराजोवाच :—

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः।

स तु कथमवशिष्ट उद्धवो
यद्धरिरपि तत्याज आकृतिं त्र्यधीशः ॥ २८ ॥

श्रीमद्भागवत ११ स्कन्ध, ३० अध्याय:—

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां **तनुं स कथमत्यजत्** ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी का दिया हुआ उत्तर नीचे उद्धृत है :—

श्रीमद्भागवत ११ स्कन्ध, ३१ अध्याय :—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम् ।
योगधारणयाग्नेय्या **दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्** ॥६॥

राजन् परस्य **तनुभृज्जननाप्ययेहा**
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिम्नो परतः स आस्ते ॥११॥

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वाञ्चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसाव**नीशः**
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥१२॥

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्य ये
ष्वनन्य हेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत् प्रणेतुं **वपुरत्र शेषितं**
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥ १३ ॥

इन सब श्लोकों का अर्थ नीचे दिया जाता है:—

राजा परीक्षित ने कहा:—यूथपति गणों में श्रेष्ठ अधिरथ, वृष्णि तथा भोजवंशीय गण सभों के निधन प्राप्त होने पर, और त्रिलोकनाथ श्रीहरि के भी **देहपरित्याग करने पर**, वे प्रसिद्ध भक्त उद्धवजी पुनः किस हेतु जीवित रहे ? (२८ श्लो०, ४ र्थ अ०, ३ स्कन्ध ।)

स्कन्ध ११; अ० ३०:—

परीक्षित ने जिज्ञासा की:—स्वकीय यदुवंश के ब्रह्मशापग्रस्त होने पर, यदुपति श्रीकृष्णजी ने किस प्रकार सर्व्वजनों के नेत्रों के आनन्ददायिनी **अपनी देह का परित्याग किया** ? ॥२॥

इस प्रश्न के उत्तर में यादवों का प्रभासतीर्थ में गमन, वहाँ मदिरापान से मत्त होकर परस्पर युद्ध कर निधन होना, बलदेव का देहत्याग, तत्पश्चात् भगवान् का एक पिप्पल वृक्ष के मूल में अपने पृष्ठ देश को स्थापित कर पृथिवी पर उपवेशन, वहाँ व्याधकर्तृक मृगबोध से उनके पाद-तल का शराघात से विद्ध होना, तत्पश्चात् व्याध की स्तुति तथा भगवान्कर्तृक उसको सशरीर स्वर्ग को प्रेषित करना—इन सब विषयों का वर्णन करके शुकदेवजी ने कहा:—

११ स्कन्ध, ३१ अध्याय:—

जो देह सब लोगों को आनन्ददायक है और जिसकी धारणा

तथा जिसके ध्यान से सर्व्वविध कल्याण होता है, आग्नेयी योग धारण द्वारा उस देह को दग्ध कर, भगवान् स्वीयधाम को प्रस्थित हुए ॥६॥

श्लोक में "आग्नेय्या दग्धा" पद उल्लिखित है, यह पद जैसा है वैसा ही इसका अनुवाद किया गया है। परन्तु आग्नेय्या + अदग्धा="आग्नेय्यादग्धा" ऐसी भी पदयोजना की जा सकती है; श्रीधर स्वामी ने इसी रूप से श्लोक का अर्थ किया है; कारण, वे कहते हैं कि जगत् इसी देह में प्रतिष्ठित है, अतएव इस देह के दग्ध होने पर जगत् के भी दाह का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। भगवान् ने अर्जुन और यशोदा को इसी देह में त्रिभुवन प्रदर्शित किया था; ऐसा प्रतीत होता है कि, इसी कारण श्रीधर स्वामी ने ऐसा समझा होगा कि, इस देह में जगत् के प्रतिष्ठित रहने के कारण, इसके दग्ध होने पर, जगत् के दाह होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। मुनियों को भी कभी कभी मतिभ्रम होता है, यह एक प्रसिद्ध वाक्य है। अतएव श्रीधर स्वामी को भी इस स्थान में कदाचित् भ्रम ही हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण को तो सभी प्रकार की सामर्थ्य थी; परन्तु ब्रह्मज्ञ पुरुष-मात्र भी अपने में समग्र विश्व के दर्शन करने में समर्थ हैं; इसके संबंध में भगवान् ने स्वयम् गीता में उपदेश किया है—"येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" (गीता ४ र्थ अ० ३५ श्लोक)। ब्रह्मज्ञ पुरुष अपने में समग्र विश्व के दर्शन करने में समर्थ हैं, और उनके शक्तिदान

करने पर दूसरे भी समर्थ हो जाते हैं; इस कारण क्या उनके देह के विनाश हो जाने पर विश्व का भी विनाश हो जायगा? एक क्षुद्र दर्पण में अनन्त आकाश प्रतिबिम्बित होता है; इस कारण दर्पण के ध्वंस होने पर आकाश का ध्वंस नहीं होता। महाभारत के वनपर्व के ६६ वें अध्याय में उल्लिखित है कि, श्रीरामावतार में परशुराम को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने निज देह में विश्वरूप प्रदर्शित कराया था। जो कुछ हो श्रीधर स्वामी प्रदर्शित युक्ति की संगति न होने पर भी, "आग्नेय्यादग्धा" पद की 'आग्नेय्या'+'अदग्धा' ऐसा विश्लेषण किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इस प्रकार से अर्थ करने का कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता; कारण आग्नेयी योग धारण करने का कोई प्रसंग भागवत के किसी स्थान में (इसके पूर्व्व) नहीं आया है; हठात् इसी स्थान में इस आग्नेयी योग के विषय और उससे देह को दाह न करने के विषय उल्लिखित करने का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता। जो कुछ भी हो, "अ" अक्षर "दग्धा" पद के पूर्व में जोड़ कर अर्थ करने से, ब्रह्मपुराण, विष्णु-पुराण, प्रभृति अपरापर पुराणों और श्रीमद्भागवत के पूर्व्वोद्धृत के समस्त वाक्यों के साथ एक-वाक्यता की रक्षा करते हुए, इस भाँति से अर्थ करना होगा कि, भगवान् आग्नेयी धारणा द्वारा देह को न जला, उसे यहीं वैसे ही परित्याग कर, अपने धाम में प्रविष्ट हुए।

"दग्धा" पद के पूर्व अकारयुक्त न कर श्लोकार्थ करने

पर भी अपर समस्त पुराणों के साथ एकवाक्यता की रक्षा करते हुए यह कहा जायगा, कि "दग्धा" पद का अर्थ निपट भस्मीभूत नहीं, साधारणभाव से दाहमात्र, जिससे देह विकृत होने पर भी वर्तमान रहे; कारण, वहाँ अन्वेषण करने पर राम और कृष्ण दोनों की देह अर्जुन को प्राप्त हुई थीं, और अन्यान्य पुराणों में उल्लिखित है कि, अर्जुन ने उनका संस्कार किया था।

वस्तुत: भगवान् ने जो अपने मानुष कलेवर का त्याग किया था, अन्य पुराणों की भाँति भागवतकार ने भी उसका वर्णन अनेक स्थलों में किया है; उनमें से कई एक पहिले हमने उद्धृत किये हैं। इस ३१ श अध्याय के पूर्व्वोद्धृत ६ ष्ठ संख्यक श्लोक के पश्चात् जो ११,१२,१३ श्लोक लिखित हैं, उनके पाठ से भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। उन समस्त श्लोकों का अर्थ नीचे वर्णन करते हैं। यथा:—

हे राजन्! परमात्मा श्रीकृष्ण के देहधारी यादवगण के कुल में जन्म ग्रहण और देहत्याग को (तनुभृज्जननाप्ययेहा = तनुभृत्सु यादवादिषु जननाप्ययेहा आविर्भाव-तिरोभाव-चेष्टा इति श्रीधर स्वामी; अप्यय=देहनाश + ईहा=चेष्टा, कर्म) नट की माया का अनुकरण-मात्र ही समझना। वे स्वयं देह की रचना कर उसी में प्रविष्ट हो (कुछ काल) विहारपूर्वक स्वयं ही उसको संहार करके अपनी महिमा से विराजित हैं॥११॥

सबके आश्रयदाता जो मर्त्यदेह द्वारा अपने गुरुपुत्र को

यमलोक से लौटाने में समर्थ हुए थे, जिन्होंने ब्रह्मास्त्र द्वारा दग्ध तुम्हारी रक्षा की थी, और संग्राम में मृत्युञ्जय महादेव से जय प्राप्त की थी तथा व्याध को सशरीर स्वर्ग में प्रेषित किया, क्या वे भगवान् श्रीकृष्ण अपनी देह की रक्षा करने में असमर्थ थे ? ("अनीशः किं स्वावने"=स्वावने स्वरक्षणे किं अनीशः = असमर्थः) ॥ १२ ॥

"स्वावने" पद का अर्थ श्रीधर स्वामी ने भी "स्वरक्षण" ही किया है। "स्वानां यदूनां अवने रक्षणे" इस रूप का भी अर्थ कोई कोई करते हैं, परन्तु यह अस्वाभाविक कष्ट-कल्पना ही कह कर बोध होता है।

केवल यह शिक्षा देने के हेतु कि मर्त्यदेह का आदर वृथा है, जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय के एक-मात्र कारण और अनन्तशक्तिधारी भगवान् ने यदुकुल के संहार हो जाने पर पृथ्वीस्थ अवशिष्ट एक-मात्र निजदेह का भी वैकुण्ठ ले जाने की इच्छा नहीं की ॥ १३ ॥

इन समस्त प्रमाणों तथा इसी प्रकार के अन्यान्य प्रमाणों से यही सिद्धान्त होता है कि, भगवान् मनुष्य-देहावलम्बन द्वारा ही मनुष्यलोक में प्रकाशित हुए थे, एवं लीलासंवरण के समय उस देह को परित्याग करके निजधाम को प्रस्थित हुए थे।

परन्तु इसको विचार करके देखना चाहिये कि, मनुष्य-

देह किस उपादान से निर्मित है। यह सभी जानते हैं कि, क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम इन्हीं पञ्च पदार्थों के विभिन्न प्रकार के विमिश्रण (पञ्चीकरण) से दृश्यमान समस्त जगत् और जागतिक समस्त वस्तुएँ प्रकाशित हुई हैं। मनुष्यादि मर्त्यदेह में क्षिति और जल का अंश अधिक है; देवादि के देह में क्षिति और अप् का अंश अत्यल्प और भूतत्रय के अंश अधिक हैं। परन्तु क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम नाम-विशिष्ट जो पाँच पदार्थ हैं, इनका स्वरूप क्या है, यह किस उपादान से गठित हैं—इन विषयों के अनुसंधान करने पर विदित होता है कि, श्रुतियाँ कहती हैं एतत् समस्त ही ब्रह्म ("सर्वं खल्विदं ब्रह्म"), इन सबका उपादान एकमात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्मस्वरूप और जगत्स्वरूप की व्याख्या करते समय नानाविध श्रुतिप्रमाणों का उल्लेख किया गया है और नानाविध दृष्टान्तों के द्वारा इसके समझाने की चेष्टा की गई है। श्रुतियाँ स्वयं दृष्टान्त देती हुई यह कहती हैं कि, जिन्हें अविकृत स्वर्ण का ज्ञान है, वे यही जानते हैं कि, ये सुवर्णनिर्मित कुण्डल, हार इत्यादि समस्त ही सुवर्णमात्र हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, केवल पृथक् पृथक् नाम और रूप द्वारा ही परस्पर विभिन्न प्रतीत होते हैं (छान्दोग्य ६ अ० १ म खण्ड)। तद्रूप जागतिक समस्त वस्तु ब्रह्म है, ब्रह्म ही सबका उपादान है, केवल भिन्न भिन्न नाम और रूप ही द्वारा पारस्परिक भेद का बोध होता है; जैसे अविकृत सुवर्ण जब तक देख न लिया

जाय तब तक कुण्डल और हार में एक ही स्वर्ण का ज्ञान नहीं उत्पन्न होता; वैसे ही ब्रह्म-दर्शन न होने तक जागतिक समस्त वस्तुएँ ब्रह्म हैं इसका भी बोध नहीं होता; ब्रह्मदर्शन होने पर सभी ब्रह्म कह कर प्रतीत होते हैं। वस्तुओं के जो ये समस्त विभिन्न रूप हैं, वे भी ब्रह्म ही में अवस्थित हैं, वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, प्रस्तरखण्ड और अन्यान्य दृष्टान्तों के द्वारा पहिले ही यह समझा दिया गया है। इसकी व्याख्या विशिष्टरूप से पहले ही की गई है कि, एक बृहत् प्रस्तरखण्ड के सम्पूर्ण रूप से अविकृत होने पर भी, उसके विशेष विशेष अंश पर दृष्टि स्थिर करते समय काली, दुर्गा प्रभृति असंख्य रूप दृष्टि-गोचर हो सकते हैं; इसी तत्त्व को प्रकाशित करने के हेतु अपरापर दृष्टान्त और युक्तियों के द्वारा यह विषय भली प्रकार परिष्कृत कर दिया गया है; उसे निविष्टचित्त होकर पाठ करना।

अतएव मनुष्य-देह जिन क्षिति प्रभृति पदार्थों द्वारा गठित है, उन्हीं क्षिति प्रभृति पदार्थों का उपादान जब ब्रह्म, तब भगवान् के मनुष्यदेहावलम्बन-द्वारा अपने को प्रकाशित करने पर भी, उनका देह सर्व्वांश में ब्रह्म ही था, दूसरा कुछ नहीं। उनमें किसी प्रकार का अविद्या-संबन्ध नहीं था, और न उनकी देह किसी प्रकार के प्राक्तन कर्माधीन ही थी, वह केवल उनकी निज-इच्छा द्वारा ही प्रकाशित हुई थी, इन्हीं कारणों से अन्य जीवों की देह से इनकी देह में बहुत पार्थक्य है, इसकी व्याख्या

पूर्व ही में की गई है। इसी देह के अवलम्बन से इन्द्रलोक में जाकर भगवान् ने पारिजात का आहरण किया था, वरुण और यमलोकों में गमन कर अपने पिता नन्दराज एवं गुरुपुत्र को वहाँ से छोड़ाया था, मृत ब्राह्मण-कुमारों को आनयन करने के हेतु त्रिलोक की सीमा अतिक्रमण कर तमोमय लोकपर्यन्त उत्क्रमण कर, अर्जुन के साथ वे भगवान् अनन्तदेव के निकट उपस्थित हुए थे। क्या यह सकल कार्य साधारण मनुष्य देह-द्वारा सम्भावित हो सकता है ? अतएव यदि सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करना ही यथार्थ सत्यदर्शन हो, और यही यदि जीव के हेतु परम श्रेयःसाधन हो, तब सर्वप्रथम ही क्या इस विशुद्ध अवतार देह में ब्रह्म बुद्धि स्थापित करना सर्वतोभाव से कर्तव्य नहीं है ? जिनकी इस देह में भी ब्रह्मबुद्धि स्थापित नहीं होती, जो इस देह में ब्रह्म-बुद्धि स्थापित करने की चेष्टा नहीं करते, उनके लिए अन्यत्र किसी स्थल में इसके स्थापित होने की क्या कोई सम्भवाना है ? जागतिक किसी अवयव में ब्रह्म से भिन्न भाव रख, केवल पञ्चभूतात्मक कहकर, बुद्धि स्थापित करना ही अविद्या का पुष्टिसाधक और मिथ्या ज्ञान का प्रश्रय-प्रद मात्र है। अतएव निज कल्याणार्थी पुरुष, औरों में न हो तो, भगवदवतार-देह में तो ब्रह्म-बुद्धि की स्थापना करें। भगवद्देह को मनुष्य देह कह कर विशेषित करने पर वास्तव में अब्रह्मज्ञ लोगों के मन में यह भावना उपस्थित होती है कि, यह ब्रह्म नहीं केवल क्षुद्र जड़ वस्तु है। परन्तु इसके द्वारा उनकी

अवज्ञा ही होती है, सुतरां इससे अपराध ही उत्पन्न होता है। अतः कल्याणार्थी पुरुषों को भगवद्देह में मनुष्यबुद्धि परिहार करने ही में सदा यत्नवान् होना चाहिये।

और भूत भविष्यत् और वर्तमान में प्रकाशित जागतिक समस्त रूप ही ब्रह्मसत्ता में नित्य वर्तमान है। पूर्व ही में वर्णन किया जा चुका है कि सर्वज्ञ ब्रह्म के ज्ञान में समस्त जागतिक वस्तुओं की नित्य विद्यमानता है। यह कैसे सम्भव है, इसकी आशंका कभी न करना। देखो, बाल्य-काल से अद्य पर्य्यन्त कितनी अनन्त वस्तुयें तुम्हारे ज्ञान के विषयीभूत हुई हैं; वे समस्त रूप तुम्हारे चित्त में अंकित हैं, परन्तु तुम उन्हें समझ नहीं सकते; किन्तु उद्दीपक कारण के उपस्थित होने पर, अतीत काल की दृष्ट-वस्तु की समस्त घटनाएँ तुम्हारे स्मृति-पथ में उदित हो जाती हैं, एवम् अदृश्य भाव से तुम्हारे चित्त में उनका वर्तमान रहना निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है। ह्यामिल्टन के Lectures on metaphysics नामक ग्रंथ को हमने बाल्य-काल में पढ़ा था। मुझे स्मरण आता है कि, उसके एक स्थान पर लिखा था कि, एक बालिका को हिस्टीरिया का रोग हुआ; उसने न कभी हिब्रू भाषा पढ़ी थी और न कभीं उसे जाना था; परन्तु बीमार होने पर उसने हिब्रू-ग्रंथ की उक्तियों की आवृत्ति कर डाली। यह दशा देखकर उसके आत्मीयों के हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई थी कि कोई पंडित-प्रेत (learned ghost) ने उसके शरीर में आश्रय ग्रहण

किया है। परन्तु अनुसन्धान करने पर विदित हुआ कि, वह अपनी शैशवावस्था में एक हिब्रूभाषाभिज्ञ पंडित के निकट रहती थी; पंडित महाशय जब हिब्रू-भाषा के ग्रंथ का पाठ उच्च स्वर से किया करते थे, तब वह बालिका उसे अवश्य सुनती रही, परन्तु समझती कुछ भी न थी; ये समस्त हिब्रू-शब्द अलक्षित भाव से उसके चित्त में अंकित हुए थे, बीमारी के समय वे समस्त ध्वनि उसके स्मृतिपथ में उदय हो गईं, इसी अवस्था में उसने उनका उच्चारण किया, परन्तु बीमारी छूटने पर उसे उस बात का कुछ भी स्मरण नहीं रहता था। प्रत्येक के जीवन में भी न्यूनाधिक परिमाण में इसी के अनुरूप घटनाएँ दृष्ट होती हैं। समस्त दृश्यवर्ग के चित्रों की छाप अनन्त आकाश में अंकित है। सुना गया है कि, किसी थियसफिस्ट साहब ने कहा है कि, ध्यान में अवस्थित होने पर उन्हें कुरुक्षेत्र के संग्राम का दृश्य दृष्टिगोचर हुआ था। योगियों के निकट जो भूत भविष्यत् विषयों का ज्ञान उदित होता है उसमें कोई सन्देह नहीं; इसका प्रमाण तुमको भी कभी कभी मिला होगा। अतएव अचिन्त्य-शक्ति, सर्व्वव्यापी, सर्वज्ञ ब्रह्म में जो भूत-भविष्यत् और वर्तमान समस्त नित्यरूप में प्रतिष्ठित है, उसके विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। विष्णु-पुराण के १ म अंश २२ श अध्याय में लिखा है:—"तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्। आविर्भाव-तिरोभाव-जन्मनाश-विकल्पवत्॥" अर्थात् हे मुनिवर! यह समस्त जगत् अक्षय तथा

नित्य है; उत्पत्ति और नाश शब्दों ही से इसके आविर्भाव और तिरोभाव की व्याख्या की जाती है।

भगवदवतार के रूप को भी इसी भाँति नित्य समझना चाहिये; उसके ब्रह्मसत्ता में नित्य वर्तमान रहने के कारण, साधकों पर अनुग्रह करने के निमित्त, उनके ध्येय रूप का अवलम्बन कर भगवान् उनके निकट प्रकाशित होकर साधकों की वाञ्छा पूर्ण करते हैं। अतएव अवतारदेह के पतन होने पर भी, इसकी मूर्ति का ध्यान व्यर्थ नहीं होता, वह अमोघ फलप्रद है, इसमें किसी प्रकार की शंका न करना चाहिये; यह ध्यान कदापि निष्फल नहीं होता। यह विश्वास करके साधन करने पर, इसकी सत्यता स्वयम् प्रकटित हो जायगी।

तृतीय अध्याय

द्वैताद्वैतसिद्धान्त तथा साधन।

विषयः—भेदाभेद—द्वैताद्वैत—सिद्धान्त क्या है ?

शिष्यः—द्वैताद्वैतसिद्धान्त क्या है, किस कारण इसको द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद सिद्धान्त कहते हैं, इस विषय को कृपाकर संक्षेपतः वर्णन कीजिये, जिससे परिष्कृतरूप से मुझे इसकी धारणा हो।

गुरुः—हम लोगों के सिद्धान्तानुसार श्रुति तथा ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म-विद्या जिस प्रकार व्याख्यात है, संक्षेपतः उसका वर्णन करता हूँ :—

ॐ

१। ब्रह्म चिदानन्दरूप अद्वैत सद्वस्तु है।

व्याख्याः—ब्रह्म सद्वस्तु है, वह विद्यमान है; वह स्वरूपतः आनन्दमय है; किन्तु शर्करा जैसे अपनी मिष्टता की अनुभूति नहीं कर सकती है, ब्रह्म वैसा नहीं है; वह स्वयं आनन्दरूप होते हुये भी निज स्वरूपगत आनन्द का अनुभव करता है। अतएव वह चिदानन्दरूप सद्वस्तु है। उसके अतिरिक्त और कोई द्वितीय सद्वस्तु नहीं है; इस कारण वह अद्वैत है।

२। जो अनन्तरूप-विशिष्ट विचित्र जगत् तथा जागतिक पदार्थसमूह हैं, वे सभी सर्वप्रकार भेदवर्जित होकर, ब्रह्म के

साथ एकरस होकर, ब्रह्मसत्ता में नित्य वर्तमान हैं; ये सभी ब्रह्म हैं। अतएव इनके अस्तित्व से ब्रह्म के अद्वैतत्व की हानि नहीं होती है।

व्याख्या:—जिस भाँति पीत, नील, लोहितादि (Violet, indigo, blue, etc) सप्तवर्ण पारस्परिक भेदरहित होकर एक शुक्ल (White) वर्ण में वर्तमान रहते हैं; तथा, जिस भाँति तुम्हारे (एक ही) चित्त में दर्शन, श्रवण, आस्वादन, प्रभृति शक्तियाँ पारस्परिक भेद-विवर्जित हो चित्त के साथ एकीभूत होकर नित्य वर्तमान रहती हैं; और जिस भाँति बाह्य वस्तु-समूह के रूप रसादि के तुम्हारी इन्द्रिय-द्वारा प्रत्यक्षीभूत होने पर, प्रत्यक्षकालीन तुम्हारे चित्त में अङ्कित उनके प्रति-बिम्ब समूह, पश्चात् चित्त में लीन होकर, पारस्परिक भेद-वर्जितावस्था में चित्त के साथ एकीभूत होकर, वर्तमान रहते हैं; उसी भाँति ब्रह्म का जो आनन्दांश है, उसके साथ एकरस होकर, समस्त जागतिक वस्तुयें पारस्परिक भेद-विवर्जित होकर वर्तमान हैं।

३। (क) ब्रह्म के स्वरूपगत आनन्दांश की इस प्रकार की योग्यता है कि, वह अपनी चिच्छक्ति द्वारा अनन्त प्रकार से अनुभूत हो सके। जैसे एक मार्जित प्रस्तरखण्ड के विशेष विशेष अंशों ही पर दृष्टि स्थिर करने से, उस अविकृत प्रस्तर-खण्ड में कल्पना-द्वारा, नानाविध रूप दृष्ट हो सकते हैं, अत-एव उस प्रस्तर-खण्ड के अविकृत रहने पर भी, बहुरूप से

दृष्ट होने की योग्यता उसमें है; जैसे प्रत्यक्षीभूत बाह्य वस्तु के चित्त में प्रतिबिम्बित रूप समूह चित्त में लीन होकर रहते हैं, पश्चात् उद्दीपक कारण के उपस्थित होने पर, स्मृतिपथ में आरूढ़ होकर चित्त में अवस्थित रहने पर भी, चित्त से विभिन्नरूप में प्रतिभात होते हैं; अतएव चित्त की ऐसी योग्यता है कि, उसी में विभिन्नरूप समूह प्रकाशित हो सकते हैं; वैसे ही ब्रह्म के स्वरूपगत आनन्दांश के स्वयं अविकृत रहने पर भी, उसमें निज चिच्छक्ति-द्वारा विभिन्न रूप से अनुभूत होने की योग्यता है। इसी का नाम माया-शक्ति है। स्वीय स्वरूपगत चिच्छक्ति-द्वारा स्वीय स्वरूपगत एक ही आनन्द को वह अनन्तरूप से अनुभव कर सकता है। यही ब्रह्म की ऐशी शक्ति है। एक होकर भी अनन्तरूप में अपना दर्शन करता है, अपने आनन्द का अनन्तरूप से आस्वादन करता है, इस कारण उसकी ईश्वर संज्ञा है।

(ख)—जैसे ब्रह्म के आनन्दांश की अनन्त विभिन्न-रूप में अनुभूत होने की योग्यता नित्य वर्तमान है, वैसे ही उस आनन्द को अनन्त रूप से अनुभव करने के कारण, उसके चिदंश में भी अनन्त भाग में प्रकाशित होने की योग्यता नित्य वर्तमान है। मानो ब्रह्म अपनी चिच्छक्ति की अनन्त शाखायें विस्तृत कर अनन्त प्रकार से अपने आनन्दांश का नित्य भोग किया करता है। जैसे सूर्यदेव अनन्त रश्मियों को चतुर्दिक् विस्तृत कर समस्त आकाशमण्डल को

परिपूर्ण करते हैं, और आकाशस्थित सब पदार्थों के साथ सम्बन्ध-विशिष्ट होते हैं; वैसे ही अनन्त सूक्ष्म चित्-रश्मि-समूह के द्वारा ब्रह्म अनन्त रूप से स्वीय आनन्दांश के साथ मिलित होकर अनन्त रूप से उस आनन्द का आस्वादन करता है। ब्रह्म की ये सूक्ष्म चित्-रश्मि (चित्-शाखा) समूह ही जीव नाम से आख्यात हैं; यही जीव का स्वरूप है। ब्रह्म की जो व्यापक चिच्छक्ति है,—जो ऐशी शक्ति के नाम से आख्यात है—उसके नित्य अन्तर्भूत यह जीव-शक्ति है। और ब्रह्म में अभिन्न भाव से वर्तमान रहकर भी, उसका आनन्दांश जिस अनन्त रूप से उसकी चिच्छक्ति-द्वारा अनुभूत होता है, यही रूपसमूह दृश्यस्थानीय जगत् है; ईश्वर इसका सम्यक्द्रष्टा है, तथा जीव इसका व्यष्टि-द्रष्टा है। ब्रह्म के आनन्द और चित् को केवल समझाने के हेतु इनकी पृथक् पृथक् व्याख्या की गई है; वास्तव में वह आनन्द अथवा उसका कोई अंश कभी चिद्रहित नहीं रहता है, और चित् भी आनन्दसंयुक्त न होकर स्वतन्त्र भाव से अवस्थान नहीं करता है। दोनों ही एक अविभक्त सद्ब्रह्मरूप के अन्तर्भूत हैं।

नित्य सम्यक् द्रष्टा होने के कारण, ईश्वर समस्त जागतिक रूपों को स्वीय आनन्दांश का प्रकाशभावमात्र जानता है—निजस्वरूप में ही स्थित जानकर उनका दर्शन करता है; यह दर्शन आनन्द ही का दर्शन है; अतएव इसमें किञ्चिन्मात्र भी अज्ञान अथवा दुःखानुभव नहीं है। जीव उसका अंश होने

पर भी स्वभावत: असम्यक् दर्शी है; दृश्यस्थानीय आनन्दांश के प्रति विशेष रूप से अभिनिवेश के कारण, **स्वीय द्रष्टृ-स्वरूप को विस्मृत होकर** और केवल निज भोग्यस्थानीय आनन्दांश में ज्ञानविशिष्ट होकर (जीव) जब वर्तमान रहता है तब वह दृश्यस्थानीय जगत् को भी चैतन्यविहीन—केवल भोग्य अचेतन-पदार्थ कह कर अनुभव करता है, यही अविद्या का स्वरूप है। अविद्यायुक्त जीव को बद्धजीव कहते हैं। और जब जीव ईश्वर के विधान के अनुसार स्वीय चिद्रूप में सम्यक् प्रतिष्ठित होता है, **जब स्वीय चिद्रूप का ज्ञान उसमें सम्यक् उदित होता है**, तब दृश्यस्थानीय जगत् भी चिदानन्दमय रूप से उसके निकट प्रतिभात होता है। वह पुन: जगत् को अचेतन नहीं अनुभव करता। उस अवस्था में उसको मुक्त जीव कहते हैं। परन्तु अपने चिद्रूप के दर्शन ही से जगत् का अचेतनत्व-विषयक-संस्कार एकदम तिरोभूत नहीं होता है; अतएव ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् भी, अचेतन देहधारी रूप से वह जीवित रहता है; जब भोग-द्वारा यह संस्कार सम्यक् लय-प्राप्त होता है, तब पहिले उसका स्थूलदेह विमुक्त होता है, वह सूक्ष्म देह का आश्रय ग्रहण कर सूक्ष्म ब्रह्मलोक में गमन करता है; गमन करने की दशा में क्रमश: उसके सूक्ष्म देह का संस्कार भी विलुप्त होता रहता है, और ब्रह्मलोक-प्राप्ति के पश्चात् सम्यक् रूप से विलुप्त हो जाता है; तब उसका सूक्ष्म-देह विशेषत्व-वर्जित होकर स्वीय-आनन्दरूपता प्राप्त करता है, और

वह स्वयं आनन्दमय होकर चिद्रूप में सम्यक् प्रतिष्ठित होता है। इसी को परममोक्ष कहते हैं, यह कैवल्य अथवा विदेह-मुक्ति कही जाती है। ब्रह्मदर्शन होने के पश्चात् यावत्पर्यन्त स्थूल देहधारी रूप से वह जीवित रहता है, तावत्पर्यन्त उसको जीवन्मुक्त कहते हैं; चिद्रूप ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी, जगत् के प्रति अचेतन बुद्धि के पूर्व संस्कार के सम्यक् विनष्ट होने में कुछ विलम्ब होता है। बाल्यावस्था में तुमने सुना था कि, किसी स्थान पर भूत रहता है, वयःप्राप्त होने पर तुमको निश्चित रूप से बोध हुआ कि उस स्थान पर भूत नहीं है; किन्तु, ऐसा ज्ञात होने पर भी, पूर्वसंस्कारवश, जैसे उस स्थान पर रात्रिकाल में एकाकी जाने में कुछ काल पर्य्यन्त मन में भय-संचार होता है; उपरोक्त पूर्वसंस्कार का सम्यक् क्षय-प्राप्त न होना भी इसी प्रकार जानो। स्थूल-देह का संस्कार अपेक्षाकृत दुर्बल, और सूक्ष्मदेह का संस्कार (मन, इन्द्रियादि मेरे स्वरूपगत हैं, यह संस्कार) अपेक्षाकृत दृढ़ होता है। प्राक्तन (पूर्वजन्म कृत) कर्म्म के फल-भोग-द्वारा स्थूल देह के संस्कार के दूरीभूत होने पर, सूक्ष्म देह का संस्कार साथ ही साथ विलुप्त नहीं होता है; अतएव स्थूलदेह के संस्कार के विलुप्त होने पर, वह सूक्ष्म देह से विमुक्त होकर पतित होता है; तब जीव सूक्ष्म देहावलम्बन कर अर्चिरादि मार्ग-द्वारा ब्रह्मलोक को गमन करता है; वहाँ उस देह के संस्कार के सम्यक् विलुप्त होने पर, उस सूक्ष्म देह के उपकरण समूह निरवच्छिन्न आनन्दमयरूप में प्रतिष्ठालाभ

करते हैं। आनन्दरूप में ये सदैव प्रतिष्ठित थे; किन्तु जीव-चैतन्य बद्धावस्था में स्वरूपज्ञान से विच्युत होने के कारण, इनके भी यथार्थ चैतन्यमय स्वरूप के अनुभव करने में असमर्थ होकर दु:खभागी हुआ था। अब ईश्वर-कृपा से इस भ्रम के विगत होने पर, उसने चिदानन्दमयरूप में पुन: प्रतिष्ठालाभ किया है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि, चिद्रूपता का विस्मरण ही बन्धन का कारण, तथा चिन्मयता का साक्षात्कार ही मोक्ष का हेतु है, और चिदानन्दरूप में प्रतिष्ठा ही मोक्ष है।

एक अद्वैत होने पर भी, ब्रह्म अभिन्नरूप से जो (उक्त प्रकार से) अपने को अनुभव करता है, यही उसका द्वैतत्व है। इसके भी नित्य अपने स्वरूप में वर्तमान रहने के कारण, उसका सम्पूर्ण स्वरूप वर्णन करने पर उसको द्वैताद्वैत कहकर वर्णन किया जाता है।

जीव (बद्ध तथा मुक्त, उभय अवस्था में, स्वरूपत:) ब्रह्म का अङ्गीभूत अंश-मात्र है। अंश के साथ अंशी का सम्बन्ध भेदाभेद सम्बन्ध होता है। अंश सर्व प्रकार से अंशी के अन्तर्भूत, अतएव अभिन्न है। पुन: अंश की अपेक्षा अंशी व्यापक, अतएव भिन्न भी है। अतएव दोनों के सम्बन्ध को भेदाभेद-सम्बन्ध कहते हैं। अंशी में अंश प्रतिष्ठित रहता है; अतएव अंश अंशी को अपनी आत्मा समझता है; इस कारण अंशी के साथ अंश का **तादात्म्य** सम्बन्ध कहा जाता है।

दृश्यमान-जगत् का उपादान आनन्दमय ब्रह्म है; अतएव इस सत्य कारण के कार्य-रूप से प्रकाशित जगत् भी सत्य है। ब्रह्म से पृथक् रूप में अस्तित्वशीलता का ज्ञान भ्रमात्मक है; यह (ज्ञान) जीव के असम्यक् दर्शित्व का फल है; इसी का नाम अविद्या है। जगत् के साथ भी ब्रह्म का भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध है; कारण, जगत् भी ब्रह्म का अंश-मात्र है।

सद्गुरु के आश्रय बिना इस ब्रह्मरूप का ज्ञान उपजात नहीं होता है। उनमें आत्मसमर्पण कर भक्तिपूर्वक भजन करने से, ब्रह्म साधक के निकट प्रकाशित होता है। यह जानकर कि ब्रह्म ही जीव की आत्मा और प्रतिष्ठा-स्थान है, उसमें ऐकान्तिक भक्तियुक्त होने से, उसका स्वरूप साधक के समक्ष प्रकाशित होता है, तब वह भेद-बुद्धि-वर्जित होकर पूर्वोक्त प्रकार से चिदानन्दमय रूप में प्रतिष्ठित होता है।

संक्षेपत: मैंने स्वीयबोधानुसार ब्रह्मविद्या की व्याख्या की।

ॐतत्सत्।

विषयः—गुरु-लक्षण, शिष्य-लक्षण, दीक्षा और उपासना-प्रणाली द्वैताद्वैत मत में किस भाँति हैं ?

शिष्य:—सद्गुरु के लक्षण क्या हैं, दीक्षा की प्रयोजनीयता क्या है, और द्वैताद्वैत सिद्धान्तानुगत निम्बार्क-सम्प्रदाय की दीक्षा-प्रणाली क्या है और इस सम्प्रदाय की साधन-प्रणाली क्या है, यह जानने की अभिलाषा है।

गुरु:—संक्षेपतः क्रमशः इन सब विषयों का वर्णन करता हूँ :—

१। गुरु-लक्षण तथा दीक्षा-प्रयोजन।

गुरु को ब्रह्मवित् ऋषिगण से परम्परागत सम्प्रदायभुक्त पुरुष होना चाहिये। सबसे पहिले गुरु-सम्बन्ध में यही द्रष्टव्य है। जगत्-सृष्टि के साथ ही साथ, ब्रह्मवित् गुरु-रूप में आविर्भूत होकर, ब्रह्म ने निज-स्वरूप-प्राप्ति के निमित्त ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है, और उस उपदेश-समूह को उपयुक्त शिष्य में स्फुरण करने की शक्ति गुरु में संचारित की है। यह शक्ति परम्परारूप से आगत हुई है। परम्परारूप से आगत यह शक्ति जिसको प्राप्त नहीं हुई है, वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, और कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, परन्तु शिष्य को मोक्ष-मार्ग-प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं हो सकता है। "सम्प्रदाय-विहीना विद्या" (परम्परा सूत्र द्वारा प्राप्त न होने से) फल-वती नहीं होती, इस विषय में अनेक शास्त्रीय-प्रमाण प्रसिद्ध हैं; अतएव उनका पुनः उल्लेख करना निष्प्रयोजन है। और सर्वविध शास्त्रकारों ने तथा अन्यान्य महापुरुषों ने एक स्वर से कहा है कि, दीक्षा के बिना विद्या फलवती नहीं हो सकती है। और इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि दीक्षाविहीन किसी ने ब्रह्म-दर्शन प्राप्त किया है।

श्रीनिम्बार्क भगवान् "मन्त्ररहस्य षोड़शी" नामक एक ग्रन्थ की रचना कर गये हैं; उस ग्रन्थ की एक विस्तृत टीका

है; वह उनके शिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्यकृत कह कर विख्यात है;* उसमें प्रसङ्ग आने पर ग्रन्थकार ने सद्गुरु के अन्यान्य लक्षणों का भी वर्णन किया है। इस स्थान में उसी को उद्धृत करना यथेष्ट होगा।

बिना सद्गुरु के आश्रय ग्रहण किये, ब्रह्मविद्या का स्फुरण नहीं होता, इस विषय पर अनेकानेक श्रुतियों तथा अन्यान्य शास्त्रों के प्रमाणों का उल्लेख कर उन्होंने कहा है :—

किञ्च "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं" त्रिषु वर्णेषु सम्भूतो, मामेव शरणं गतः, नित्यनैमित्तिकपरो मदीयाराधने रतः, आत्मीय-परकीयेषु समो, दैशिक उच्यते इति।

"आचार्यो वेदसम्पन्नो, विष्णुभक्तो विमत्सरः।
मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च, सदा मन्त्राश्रयः शुचिः॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः, पुराणज्ञः विशेषतः।
एवं लक्षणसम्पन्नो, गुरुरित्यभिधीयते॥"

इत्यादि शास्त्रोक्त लक्षणसम्पन्नः कारुण्य-वात्सल्य-क्षमार्जवादि-गुणाश्रय एव मुमुक्षुणा आश्रयणीयः; व्यतिरेके दोषश्रवणात्

* कोई कोई कहते हैं कि, श्री श्रीनिवासाचार्य्य के परवर्त्ती कोई आचार्य (श्रीसुन्दर भट्टजी महाराज) इस टीका के प्रणेता हैं। जो हो, यह टीका साम्प्रदायिक आचार्य्यकृत है और सम्प्रदायसमूह में आदरपूर्वक गृहीत है।

"भिन्ननावाश्रितः स्तब्धो, यथा पारं न गच्छति।
ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य, कुतो मोक्षमवाप्नुयात्॥"
इत्यादिभिः प्रसङ्गप्राप्तं गुरुलक्षणमुक्तम्।

यह संस्कृत भाषा की भाँति सरल है; अतएव इसका अनुवाद अनावश्यक है।

२। शिष्य-लक्षण :—

पूर्वोक्त "मन्त्ररहस्य षोड़शी" के व्याख्या-ग्रन्थ में श्री श्रीनिवासाचार्यजी ने शिष्य-लक्षण का भी विस्तृत रूप से वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि, शिष्य चार प्रकार के होते हैं :—प्रथम शिष्यमात्र, द्वितीय अन्तरङ्ग शिष्य, तृतीय अन्तरङ्गतर शिष्य, चतुर्थ अन्तरङ्गतम। इनमें "मन्त्ररहस्य षोड़शी" ग्रन्थलिखित ब्रह्मविद्या में अन्तरङ्गतम शिष्य का ही अधिकार है; तद्रूप शिष्य ही सम्पूर्णांग-ब्रह्मविद्या-लाभ करने का अधिकारी है। श्रीनिम्बार्क भगवान् के निजकृत श्लोक में उक्त शिष्य-लक्षण का इस भाँति वर्णन है, यथा:—

गुर्वर्थं यस्य प्राणादि, यौवनं धनमेव च।
आत्मात्मीयेषु निर्विण्णोऽधिकारी सम्यगीर्यते॥

अर्थ:—जिसके प्राणादि, यौवन, धन प्रभृति सभी गुरु के निमित्त हैं, जो निज प्रति तथा निज सम्बन्धीय सभों के प्रति निर्वेदयुक्त (मोहशून्य) है, वही सम्यक् अधिकारी कहकर कथित है।

इस श्लोक की वेदान्तभाष्यकार श्री श्रीनिवासाचार्यकृत व्याख्या में शिष्य-लक्षणसमूह विस्तृत रूप से वर्णित है; संक्षेपत: उसका सारांश नीचे वर्णन किया जाता है।

उत्तम शिष्य में निम्नोक्त गुणों का होना आवश्यक है:—

(१) श्रद्धा (गुरु-वाक्य में अटल विश्वास)। (२) विवेक (नित्यानित्य विचारसम्पन्न तथा यह बोध कि जागतिक वस्तुसमूह परमेश्वर की हैं, अपना निजस्व कुछ भी नहीं है)। (३) आर्जव (सम्पूर्ण कपटशून्यभाव)। (४) अकिञ्चनत्व ("साधनानुष्ठान-सामर्थ्यादि-विषयक-कर्तृत्वादिरूपाभिमानादि-शून्यत्वम्" अर्थात् साधनानुष्ठानादि विषय में अपने सामर्थ्यादि के रहने की अभिमानशून्यता)। (५) अनन्यगतित्व (ऐसा बोधविशिष्ट होना कि गुरु के बिना अन्य कोई गति नहीं है)। (६) निर्वेद (विषयों में अनासक्ति)। (७) शौचादि-सम्पन्नता इत्यादि।

३। दीक्षा तथा साधन-प्रणाली:—

श्रीनिम्बार्क स्वामी ने अतिसाधारण भाव से दीक्षाविषय को तीन श्लोकों में वर्णन किया है, यथा:—

आदौ गुरौ न्यसेत् प्राणानात्मानं धनमेव च।
सर्वसम्बन्धविषयं कृत्वा सेवेत नित्यश:॥
देहेन्द्रियमन:प्राणैर्मायां हित्वा समाहित:।
भृत्यवत् पुत्रवत् सेवेत प्रियावन्मित्रवत्तथा॥

या देया गुरुणा विद्या भवसम्बन्धध्वंसिनी।
तां तदुक्तेन मार्गेण धारयेद्वैष्णवोत्तमः॥

अर्थः—सबसे पहिले अपने प्राण, आत्मा, और धन सभी गुरु में अर्पण करना चाहिये; गुरुजी ही को पिता माता प्रभृति सर्वविध (प्रिय) सम्बन्ध का विषय मानकर, नित्य उनकी सेवा में नियुक्त रहना चाहिये। निविष्टचित्त होकर, देह, इन्द्रिय, मन और प्राणों के द्वारा मायामोह परित्याग कर, भृत्य की भाँति, पुत्र की भाँति, स्त्री की भाँति, तथा मित्र की भाँति (होकर) सदैव उनकी सेवा में तत्पर रहना चाहिये। भवसम्बन्धनाशिनी जो विद्या गुरुदेव प्रदान करते हैं, उनके उपदिष्ट मार्गानुसार वैष्णवोत्तम साधक को उस विद्या की धारणा करनी चाहिये।

यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध है, और यह जिस प्रकार से स्थापित होता है, वह श्री श्रीनिवासाचार्यकृत व्याख्या में विस्तृतरूप से वर्णित है। साम्प्रदायिक वर्तमान प्रथा के प्रति लक्ष्य कर श्री श्रीनिवासाचार्यवर्णित उत्तमाधिकारी—दीक्षाप्रणाली ही का सारांश संक्षेपतः नीचे वर्णन किया जाता है।

(१) गुरुपरिचर्य्या करने में अभिलाषायुक्त होकर, मुमुक्षु व्यक्ति गुरु की विशेष रूप से परीक्षा कर जब यह जान ले कि, वे (गुरुजी) अतिदयालु, सर्वप्राणियों के हितकारी, निस्पृह, सर्वविद्याविशारद, सर्वप्रकार सिद्धमनोरथ, सर्वसंशयछेत्ता,

अनलसस्वभाव इत्यादि हैं, तथा गुरुरूप में वृत होने के योग्य हैं, और उन पर सम्पूर्ण विश्वास उपजात हुआ है; तब

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥

इत्यादि प्रमाणानुसार गुरुजी में ब्रह्म-बुद्धि स्थापित कर उनमें सम्पूर्ण रूप से आत्मनिवेदन करना चाहिये। इस आत्मनिवेदन-सम्बन्ध में विहित वाक्य निम्नोक्त प्रकार के हैं:—

"त्रायस्व भो जगन्नाथ, गुरो! संसारवह्निना।
दग्धं मां कालदष्टं च, त्वामहं शरणं गतः ॥

ऐसा कहकर उनके निकट उपदेश की प्रार्थना करनी चाहिये।

(२) तत्पश्चात् दीक्षार्थी को कुछ काल अपने समीप रख कर, नानाविध कर्म्मों में नियुक्त कर और उसके जाति, स्वभाव, गुण, आन्तरिक वैराग्य इत्यादि को विशेष रूप से जानकर, जब गुरुजी उसको उत्तमाधिकारी समझ लें और देख लें कि, वह व्यक्ति सम्पूर्णाङ्ग ब्रह्म-विद्या धारण कर सकेगा, तब वे उसको (दीक्षार्थी को) दीक्षा प्रदान करें।

(३) दीक्षा के दिन शिष्य निज नित्य-क्रियादि समाप्त करने के पश्चात् गुरुजी के समक्ष आकर उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् करेगा; तदनन्तर करसम्पुट पूर्वोक्त "त्रायस्व भो जगन्नाथ" इत्यादि श्लोकपाठानन्तर कहेगा, "भो भगवन्, त्रिविधतापैः

षड्भिर्विकारैः,गुणकर्म्मभिः शब्दादिभिश्चाविद्यया सदैव ग्रस्तोऽहम्, अनन्तासङ्ख्येयसर्वप्रकारकपातकोपपातकमहापातकादिभिश्च नितरां पीड़ितोऽहम्, आत्मनि स्वतन्त्रकर्तृत्वभोक्तृत्वाभिः स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्व-रूपसत्वाभिमानेन देहेन्द्रियमनबुद्ध्यादिषु स्वभोगसाधनाभिमानेन पुत्रकलत्रमित्रशत्रुद्रव्यगृहादिषु स्वभोग्यताभिमानेन तत्तत्सम्बन्धाभिमानेन च, तत्र तत्र सम्बन्धाभिनिवेशजन्यक्लेशाज्जातवेपथुः, तेषु निर्विण्णः, तेभ्यो मुमुक्षुर्दावाग्निपीड़ितो, गङ्गोदकमिव त्वां शरणं गतोऽस्मि; भृत्यो भूत्वा भर्त्तारं त्वां वृणोमि, मित्रं भूत्वा मित्रं त्वां वृणोमि, आत्मीयो भूत्वा सर्वसम्बन्धावच्छिन्नमात्मानं त्वां वृणोमि; सर्वसाधनशून्यम् अकिञ्चनं सर्वपापयुक्तम् अगतिं चापि मां केवलस्वासाधारणकारुण्यादिगुणवशात् सर्वात्मभावेन मया निवेदितमात्मानम् आत्मीयवर्गञ्च आत्मसात् कृत्वा सर्वसम्बन्धेन मम गोप्ता भूत्वा मामनुगृहाण।" इति गोप्तृत्ववरणविधिः।

अर्थः—हे भगवन्! त्रिविध तापादि तथा बहुशाखाविशिष्ट अविद्या-द्वारा पीड़ित होकर सर्वविध पाप कर्म्मों से मैं जर्जरित हुआ हूँ; देहादि में आत्मीय बुद्धि तथा निज स्वातन्त्र्य और कर्तृत्व बुद्धि द्वारा प्रेरित होकर, एवं गृह पुत्रकलत्रादि में निज भोग्य और निज स्वत्व का ज्ञान स्थापित कर, क्लेश से कम्पितकलेवर हुआ हूँ; अब उन सभों के प्रति मेरा निर्वेद उपस्थित हुआ है। अतएव जिस भाँति दावाग्नि-

द्वारा पीड़ित व्यक्ति गङ्गोदक प्राप्त कर आश्वस्त होता है, उसी भाँति मैंने भी आश्वस्तचित्त होकर आपकी शरण ग्रहण किया है; मैं भृत्य होकर आपको भर्तृत्व में, मित्र होकर मित्रत्व में, तथा निजात्मारूप आपको सर्वविध सम्बन्धविशिष्टरूप में वरण करता हूँ। मैं सर्वविध साधनशून्य हूँ, किसी विषय में मुझे कोई सामर्थ्य नहीं है, मैं पाप से मलिन और अगति हूँ; आप केवल निज असाधारण करुणा-गुण द्वारा मुझे सर्वप्रकार से आत्मसात् कर (अपना कर) मेरी रक्षा कीजिये। गुरु को "रक्षकत्व" में वरण करने की यही प्रणाली है।

तत्पश्चात् शिष्य को समीप बैठा कर उसका हस्त धारण कर गुरु उससे प्रश्न करेंगे, "यदि तुम संसार से भीत हुये हो, तो क्या सम्पूर्णरूप से मेरे दास (अधीन) होगे ?" इसके उत्तर में शिष्य तीन बार कहेगा, "हाँ, हूँगा।" तदनन्तर गुरुजी कहेंगे, "यदि सम्पूर्णरूप से अनुगत भृत्य हो, तो मैं तुमको आत्मसात् (अपना) करूँगा।" इस भाँति पुत्र मित्रादि सर्वविध सम्बन्ध की कथा पृथक् पृथक् रूप से कह कर, गुरुजी प्रश्न करेंगे कि, तुम ऐसे होगे तो ? और शिष्य प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में तीन बार "हाँ, हूँगा" ऐसा कहेगा, और गुरुजी भी "आत्मसात् करूँगा" ऐसा कहेंगे; और अन्त में कहेंगे, "मैं तुमको आत्मसात् कर तुम्हारा रक्षक हूँगा, तुम भय परित्याग करो।" यही "आत्मसात्-करण"–प्रणाली है।

(४) इसके पश्चात् गुरुजी निजहस्तद्वारा तुलसीकाष्ठ-निर्मित माल्य शिष्य के कण्ठ में धारण करायेंगे; और विहित मन्त्रोच्चारणपूर्वक गोपीचन्दन द्वारा ललाट में ऊर्ध्वपुण्ड्र की तथा अन्यान्य स्थानों में द्वादश तिलक की रचना करेंगे, और बाहु में शङ्ख, चक्र अङ्कित करेंगे। तदनन्तर मन्त्रोच्चारणपूर्वक "भगवान् के निज" अर्थ प्रकाशक नाम द्वारा उसका नाम-करण करेंगे। इसके पश्चात् गुरुजी शिष्य को अपनी गोद में स्थापित कर, उसके दक्षिणहस्त को निज कण्ठ पर स्थापित करेंगे; और गुरु-परम्परा (अर्थात् पहिले से आरम्भ कर क्रम से पूर्वाचार्यों के नामों) का उपदेश करेंगे। उस समय से शिष्य आचार्य कुल का गण्य होगा।

(५) इसके पश्चात् गुरुजी शिष्य का स्वराज्याभिषेक करेंगे। उसका मन्त्र और उसकी प्रणाली इस प्रकार की है, यथा:—"स स्वराड् भवति" इस मन्त्र द्वारा उसका स्वराज्य-विधान करेंगे; और कहेंगे, "गुरोरङ्कमेव तव सिंहासनम्" (गुरुजी का क्रोड़ ही तुम्हारा सिंहासन); "गुरोर्दक्षिण हस्त एव तव छत्रम्" (गुरुजी का दक्षिण हस्त ही तुम्हारा छत्र); "तद्वामहस्त एव चामरम्" (उनका वाम हस्त ही तुम्हारा चामर है); "तद्वा तापसपरिकरविद्यैव तव सेना" (तपस्या की सहकारिणी विद्या ही तुम्हारी फौज़); "श्रीभगवत्सम्बन्ध एव तव राजधानी" (भगवान् के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध ही तुम्हारी राजधानी); "श्रीभगवद्भावापत्तिरेव जयश्रीः" (भगवद्-

भाव-प्राप्ति ही अर्थात् तादात्म्य में स्थिति ही तुम्हारी जयश्री);
"कामादिनिवृत्तिपूर्वक प्रकृति-सम्बन्ध-ध्वंस एव तव दिग्विजयः"
(कामादि-निवृत्तिपूर्वक माया का सम्बन्ध-ध्वंस ही तुम्हारा
दिग्विजय)। ऐसा आशीर्वाद देकर गुरुजी कहेंगे:—

शिष्यपुत्र महाभाग, समाहितमना भव।
अभिषेकन्तेह्यकरवम्, ब्रह्म-स्वाराज्य-सिद्धये ॥

संसारभयमुत्सृज्य, ममाङ्कारोहणं कुरु।
आत्मानं तत्र निक्षिप्य, निर्भयो भव सुव्रत ॥

ब्रह्मविद्यां प्रदास्यामि, यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
यया सर्वाणि भूतानि, पश्यस्यात्मन्यथो हरौ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं, मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन, गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगं, वियोग योगमात्मनः।
लभ्यते परमं धाम, यतो नावर्त्तते बुधः ॥

इसके पश्चात् गुरुजी शान्तिपाठपूर्वक शिष्य के दक्षिण कर्ण में मन्त्रराज का उच्चारण करेंगे। तदनन्तर "रहस्य षोड़शी" को (जिसमें मन्त्रार्थ वर्णित है) व्याख्या सहित श्रवण करायेंगे। तत्पश्चात् शिष्य गुरुजी के क्रोड़ से उत्थित होकर भूमि में दण्डवत् पतित होकर उनको प्रणाम करेगा। तदनन्तर, गुरुजी शिष्य के दक्षिण हस्त में जल रख कर, निज हस्त में भगवद्विग्रह-शालिग्राम स्थापित कर, आत्मा-

त्मीयार्पण रूप संकल्प का स्वयं पाठ करते हुए शिष्य-द्वारा भी उस संकल्प का पाठ कराकर, शिष्य के दक्षिण हस्त को ग्रहण कर,

"श्रीकृष्णरुक्मिणी-कान्त, गोपीजन मनोहर ।
स्वानुग्रहेण भगवन्, आत्मसात् कुरु केशव ॥
संसारतापमग्नोऽयम्, आगतः शरणं तव ।
स्ववात्सल्यगुणेनैनं, ह्यात्मसात् कुरु माधव ॥"

इस मन्त्र को पढ़कर शिष्य के उक्त हस्त में श्री शालिग्राम को प्रदान कर, शिष्य को भगवान्-कर्तृक आत्मसात् करायेंगे। इसके पश्चात् गुरुजी निजपादोदक और प्रसाद शिष्य को प्रदान कर, उसको आलिङ्गन कर कहेंगे, "मयात्वं सर्वभावेन आत्मसात् कृतः, सर्वसम्बन्धानुसारेण तत्तदवस्थोचिता परिचर्य्या भृत्य-पुत्रादिवत् कर्त्तव्या" (मैंने तुमको सर्वप्रकार से आत्मसात् किया, भृत्यपुत्रादि की भाँति सर्वविध सम्बन्धानुसार अवस्था-नुयायी परिचर्य्या करते रहो)। शिष्य भी तीन बार प्रतिज्ञा-पूर्वक कहेगा, "भगवन् ! मैं ऐसा ही करूँगा"। तदनन्तर शिष्य के प्रति सर्वथा प्रीतियुक्त होकर गुरुजी उसकी बुद्धि की धारणाशक्ति को लक्ष्य कर देशकालोपयोगी सेवादि का उप-देश करेंगे।

(६) तत्पश्चात् गुरुजी पूर्वोक्त श्रीभगवद्विग्रह की, यथा-विधि उपचार द्वारा प्रीतिपूर्वक, पूजा कर शिष्य के मस्तक पर उस (श्रीभगवद्विग्रह) को स्थापित कर कहेंगे, "**मैं तुम्हारा**

हो गया"। तदनन्तर "जिन भगवान् में तुमने निज आत्मा तथा प्राण, मन, इन्द्रिय, देहादि आत्मीय वस्तुओं को अर्पित किया है, (जिनमें मेरे भी प्राणादि समस्त अर्पित हैं) उन भगवान् में तुम आत्मबुद्धि रख कर प्रीतिपूर्वक सर्व-सम्बन्धानुसार अवस्थोचित उनके सेवा-कार्य में नित्य प्रवृत्त रहना"; यह उपदेश देकर भगवान् के निकट पूर्ववत् "श्रीकृष्ण-रुक्मिणीकान्त" इत्यादि मंत्रोच्चारणपूर्वक शिष्य के निमित्त गुरुजी प्रार्थना करेंगे; और शिष्य के कल्याणार्थ उसको पूजादि नियम का उपदेश दे, उसके मुख से पुनः उन सभों की आवृत्ति कराकर, उस भगवद्विग्रह को शिष्य को अर्पण करेंगे।

(७) उत्तमाधिकारी शिष्य की दीक्षा-प्रणाली संक्षेपतः यही है। दीक्षा के पश्चात् शिष्य गुरु के समीप निवास कर परिचर्य्या में उपस्थित रहेगा; और "अहमपि स्वतन्त्रसत्ताको न भवामि, देहादिवर्गोऽपि मदीयो न भवति, किन्तु तौ तदीयौ एव, इतिकृत्वा उभयोः सत्त्वं गुरौ न्यसेत्, तदीयत्वेन तदायत्तं कुर्य्यात्" (अर्थात् मैं स्वतन्त्र सत्तायुक्त नहीं हूँ, मेरे देहेन्द्रियादि मेरे नहीं हैं, सभी ब्रह्मरूपी गुरुजी के ही हैं, ऐसी दृढ़ धारणा कर अपने को तथा अपने देहेन्द्रियादि को गुरुजी में अर्पित कर सम्यक् उनके आयत्ताधीन कर देना चाहिये)। और सदैव स्मरण रखना कि,

गुरुरेव परं ब्रह्म, गुरुरेव परायणम्।
गुरुरेव परा विद्या, गुरुरेव परा गतिः॥

अर्चनीयश्च वन्द्यश्च, कीर्तनीयश्च सर्वदा ।
ध्यायेज्जपन्नमेद्भक्त्या, भजेत् समर्चयेन्मुदा ॥
उपायोपेयभावेन, तमेव शरणं व्रजेत् ।

और भगवान् ही मेरी आत्मा हैं, यह धारणा रख सदैव भक्तिपूर्ण तथा तद्गतचित्त होकर कालक्षेप करना चाहिये; और ध्यानादि विषयक उपदेश जैसा गुरुजी प्रदान करें, वैसा ही आचरण करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

गुरुजी के उपदेशानुसार शिष्य को सदैव मन्त्र-जप करना चाहिये । जपने के समय भगवान् को मन्त्ररूपी मान कर जपना चाहिये । पद्मपुराणोक्त निम्नलिखित प्रमाण को उद्धृत कर व्याख्याकार ने विदित किया है कि, इस मन्त्र के सम्बन्ध में शौचाशौच विचार नहीं करना चाहिये:—

अशुचिर्वा शयानो वा, तिष्ठन् गच्छन् सदाऽपि वा ।
मन्त्रैकशरणो विद्वान्, मनसैव सदा जपन् ॥
चौरदुष्टमृगव्याल, सङ्कुलेऽपि वने चरन् ।
असाधितं साधितं वा, जपन् मन्त्रं न बाध्यते ॥

और ऐसी धारणा में अवस्थित रहना चाहिये कि, भगवान् ही सर्वविध कर्म्म के प्रवर्तक हैं, सुख-दु:खादि सभी उनके अधीन हैं, तथा निज कर्तृत्व कुछ भी नहीं है; किसी समय असावधानतावश कोई अनुचित कर्म कर डालने पर भी, यह स्मरण रख कर कि उनकी माया-शक्ति अनिवार्य है, पश्चात्ताप को परित्याग करना चाहिये; किसी समय व्याधि प्रभृति द्वारा

पीड़ित होने पर स्मरण रखना चाहिये कि, किसी जागतिक प्रयोजन के निमित्त, प्रभु मेरे इस दुःख के प्रति उपेक्षा कर रहे हैं, किन्तु उपयुक्त समय के उपस्थित होने पर, वे इन सभों को हरण करेंगे; उनका प्रदत्त यह दुःख भी प्रसन्नचित्त होकर मुझे भोगना चाहिये। और जागतिक समस्त जीव-जन्तु इत्यादि भगवान् के अधीन तथा उनके अङ्गविशेष हैं, ऐसी दृढ़धारणा से युक्त हो, सभी के प्रति प्रीति-भाव-सम्पन्न होने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह तो पूर्वोक्त ग्रन्थ-लिखित उत्तमाधिकारी की दीक्षा तथा साधन-प्रणाली मैंने साधारण रूप से वर्णन की है। परन्तु शिष्य को, निज उपयोगी विशेष साधन गुरुजी के मुखारविन्द से श्रवण कर, तद्रूप आचरण करना चाहिए। यह साधारण रूप से नहीं कहा जाता।

जो लोग सर्वोत्तम अधिकारी नहीं हैं, उनकी दीक्षा में भी तुलसीकाष्ठनिर्मित माल्य धारण, ऊर्ध्वपुण्ड्र, द्वादश तिलक तथा शङ्ख-चक्र-चिह्न धारण, मन्त्र ग्रहण, अनाश्रमी साधुओं का नूतन नामकरण, और सर्वश्रेणीस्थ शिष्यों का यथासम्भव गुरु में आत्मसमर्पण, और गुरु-कर्तृक-आत्मसात्-करण, शिष्य का गुरु-कुल में प्रवेशन इत्यादि आचरित होते हैं; और योग्यतानुकूल गुरुजी साधन-प्रणाली का भी उपदेश करते हैं। मन्त्र-जप, गुरु-सेवा, निज-सम्बन्ध में सदैव भगवद्दास-

बुद्धि रक्षित करना, सभी में भगवत्-सत्ता का मनन, सर्व जीवों के प्रति दया, सरल निष्कपट व्यवहार तथा आलस्य-वर्जन,—ये साधन सभी के हेतु साधारण हैं।

साधन करते करते जो सब भूमियाँ (अवस्थायें) प्राप्त होती हैं; उनका विवरण मेरे गुरुदेव के जीवन-चरित्र ग्रन्थ के सप्तम अध्याय के अन्तिम भाग में उल्लिखित हैं; उसको पढ़ने से यह सम्पूर्ण रूप से ज्ञात होगा।

उत्तमाधिकारी के मुख्य साधनों को संक्षेप रूप से वर्णन करता हूँ:—

१—(क) सदाचार-सम्पन्न, (ख) संयतेन्द्रिय, और (ग) निर्लोभी होकर प्रीतिपूर्वक (१) गुरु-परिचर्य्या, (२) भगवद्विग्रह-परिचर्य्या, (३) योग्यतानुसार शास्त्रानुकूल सब जीवों की, विशेषत: भक्त महात्माओं की, सेवा।

२—ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया॥

इत्यादि भगवद्वाक्यानुसार समस्त कर्म्मों को भगवान् में अर्पित कर सर्व विषयों में निज कर्तृत्वबुद्धिवर्जन।

३—अनन्त रूपविशिष्ट-जगत् मेरे उपास्यदेव ही में प्रतिष्ठित है और दृश्यमान रूपसमूह उन्हीं का प्रकाश-मात्र है, यह जान कर दोष-गुण-दर्शन-वर्जित होकर, सर्व जीवों में और सर्व पदार्थों में उनका ध्यानाभ्यास।

४—मेरे उपास्य चिदानन्दरूप हैं, भक्त के प्रति कृपावश ही उन्होंने भक्त के धारणोपयोगी इस अपूर्व विग्रहरूप कृष्ण-मूर्त्ति को धारण किया है; मैं उनका अङ्गीभूत अंशमात्र—उनसे अभिन्न हूँ; वे ही मेरी प्रतिष्ठा, वे ही मेरी आत्मा, तथा वे ही मेरे आनन्ददाता हैं; ऐसी धारणा-जनित अनुपम प्रीति के साथ सदैव उनको स्मरण करना।

आत्मा सर्वप्रिय है, तदपेक्षा प्रिय अन्य कोई भी वस्तु नहीं, आत्मा के सम्बन्ध ही से अन्य समस्त पदार्थ प्रिय होते हैं। अतएव परमात्मा को निजात्मा कह कर बोध करने से उसके प्रति एक गाढ़, अनिर्वचनीय अनुराग और आकर्षण उपस्थित होते हैं; इसी का नाम परा-भक्ति है, जो नारद-भक्ति के नाम से विख्यात है। भेद-भाव के रहने से परमात्मा में आत्म-बुद्धि नहीं आती ; अतएव यह परा-भक्ति भी उपजात नहीं होती। इस भेद-भाव को दूरी-भूत कर चित्त को निर्मल करना ही प्रथमावलम्बनीय सर्वविध साधनों का फल है। भगवद्गीता में श्री भगवान् ने इसका स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। यथा, गीतान्तर्गत १८ श अध्याय के ४५ से ४६ श्लोक पर्य्यन्त, कर्म्म-योग के सिद्धिपर्य्यन्त वर्णन कर, ५० से ५३ श्लोक पर्य्यन्त ज्ञान की परि-समाप्ति (“**निष्ठा ज्ञानस्य या परा**) रूप संन्यास और समाधि को वर्णन कर, उसका फल ५३ श्लोक के शेषार्ध में कहा है, “निर्मम:

शान्तो **ब्रह्मभूयाय कल्पते** ।" अर्थात् निज-पार्थक्यमूलक अहंज्ञानवर्जित ("निर्मम:") होता है, और ब्रह्म से अभिन्न बुद्धि उपजात होती है । अहंतत्त्व महत्तत्व (कार्य-ब्रह्म) में लय-प्राप्त होता है । पुनः गीतान्तर्गत १४ श अध्याय के २६ सङ्ख्यक श्लोक में साधन-भक्ति-योग का फल वर्णन करते समय भी भगवान् ने ठीक ऐसे ही कहा है ।

यथा:—"माञ्च योऽव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् **ब्रह्मभूयाय कल्पते** ॥"

इस प्रकार ब्रह्म से अभेद-बुद्धि के प्रतिष्ठित होने पर क्या होता है, इसका वर्णन भगवान् ने १८ श अध्याय के ५४ और ५५ श्लोकों में किया है । यथा:—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा, न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति, यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

अर्थ:—पार्थक्यबुद्धि-युक्त अहंज्ञान के तिरोभूत होने पर, ब्रह्म ही मेरी आत्मा है, ऐसी बुद्धि के प्रतिष्ठित होने पर, ("ब्रह्मभूत:") सर्वविध मलिनता दूरीभूत होती है, चित्त प्रसन्नता-प्राप्त होता है, तथा शोक और कामना सभी दूर हो जाती हैं; और सर्वभूतों में सम-बुद्धि प्रतिष्ठित होती है । ऐसी अवस्था को प्राप्त होने पर, साधक मत्सम्बन्धिनी पराभक्ति प्राप्त करता है । इस भक्ति के द्वारा तत्त्व के साथ मेरे

(चिदानन्द) स्वरूप को जानकर साधक अन्त में मुझमें प्रवेश करता है, अर्थात् सर्वविध देह-संस्कार-विलुप्त होकर मेरे चिदानन्दरूप में प्रतिष्ठित होता है। (यह देहान्त पर घटित होता है, "तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इत्यादि श्रुतियों ने वर्णन किया है।)

यह हम लोगों की दीक्षा और साधनप्रणाली संक्षेपत: वर्णित हुई।

विषय:—सख्य, वात्सल्य तथा मधुरभाव के साधन किस प्रकार के हैं ? और दास्यभाव क्या है ?

शिष्य:—मेरी धारणा थी कि, वैष्णवों के लिये सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये तीन ही साधन प्रसिद्ध हैं। आपने तो इस विषय में कुछ नहीं कहा। इन तीनों भावों तथा दास्यभाव के साधन क्या हैं और इनके फल क्या हैं, यह सुनने की अभिलाषा है।

गुरु:—यह त्रिविध-भाव के भजन वर्तमान काल में वङ्गीय-गौड़ीय-सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हैं। मनुष्य-मात्र न्यूनाधिक परिमाण में अविद्या के वशीभूत हैं, अतएव केवल द्वैत-भाव-पोषण करना सभी के लिये स्वाभाविक है। उक्त त्रिविध भजन द्वैतभाव पर प्रतिष्ठित है। उपास्य के प्रति भगवद्बुद्धि के रहने से भी—वह सर्वात्मा, सर्वव्यापी ईश्वर है, इस ज्ञान के रहने से भी,—उसके प्रति यथार्थ वात्सल्य, सख्य

और कान्तभाव स्थान नहीं प्राप्त कर सकते। जिसके प्रति समकक्ष मनुष्य-भाव रहता है, उसी को मनुष्य यथार्थरूप से सखा कहकर ग्रहणकर सकता है, और पुराणोक्त व्रज के गोपालों की भाँति उनके साथ सखाभाव से व्यवहार कर सकता है। उसी प्रकार से बालक, प्रतिपालनीय और कमनीय होने की बुद्धि जिसके प्रति उपजात होती है, उसी के प्रति यथार्थ वात्सल्य-भाव उदय हो सकता है; जिस पर भगवद्बुद्धि प्रतिष्ठित होती है, उस पर वात्सल्य-भाव स्थान-प्राप्त कभी नहीं कर सकता है। उसी प्रकार अतिकमनीय, सुन्दर और विहार-योग्य पुरुष होने की धारणा उत्पन्न होने पर, उसके प्रति स्त्रीभावापन्न मनुष्य का कान्तभाव (जिसको मधुरभाव करते हैं) उपजात हो सकता है। भगवत्प्रतिमूर्त्ति के प्रति भाग्यवश किसी किसी में ये सब भाव उपजात होते हैं। भगवान् ने जब व्रज में मनुष्यावतार धारण किया था, तब उस मनुष्य-मूर्ति ही के प्रति स्वभावतः माता, पिता, समवयस्क गोप-बालक, गोपिका प्रभृति में वे सब भाव उपजात हुये थे। उनके लीला-संवरण के पश्चात्, पुराणशास्त्रों में वर्णित उनकी लीला श्रवण कर और उनके रूप का ध्यान कर जब उनमें चित्त आकृष्ट होता है, तब उस कल्पित रूप के प्रति अथवा उसकी प्रति-मूर्ति के प्रति किसी किसी में भाग्यवश वैसे भाव उपजात हो सकते हैं। परन्तु ये भाव साधारण मनुष्यों-द्वारा अनुकरणीय नहीं हैं। ऐसे भाव भाग्यवश जिसमें उपजात होता है, वह उस मूर्ति को

भगवत्-मूर्ति कह कर नहीं जानता है, अपना सखा, पुत्र अथवा कान्त समझा करता है। जिनकी ऐसी दृढ़ मति होती है, वे उस मूर्ति के प्रति, उन उन भावों के अनुकूल अत्यधिक प्रेमवश उसी प्रिय मूर्ति को स्वभावतः अन्तःकरण में धारण कर सदैव उसी (प्रिय मूर्त्ति) में ध्यान-परायण होते हैं; प्रिय की लीला का श्रवण, लीला का कीर्तन और लीला का ध्यान,—यही इनका भजन है। इसी भाँति प्रेमपूर्वक ऐकान्तिक ध्यान-द्वारा उनकी अन्य समस्त विषय-वासनायें शीघ्र ही दूरीभूत होती हैं, और वे तन्मयता प्राप्त करते हैं। बद्ध जीवों के प्रति ऐसी आसक्ति का उपजात होना बन्धन का कारण है; किन्तु भगवद्विग्रह में ऐसी आसक्ति का उपजात होना बन्धन का कारण नहीं होता; कारण, यह प्रसिद्ध है कि, ध्यानकर्त्ता ध्येय का स्वभाव क्रमशः प्राप्त करता है; अतएव भगवन्मूर्ति में ऐसी आसक्ति के उपजात होने से चित्त निर्मल ही हुआ करता है। जिस परिमाण में उन लोगों के चित्त निर्मल होते रहते हैं, उसी परिमाण में वे उस प्रिय मूर्ति के ध्यान में अधिक से अधिकतर आनन्दानुभव करते रहते हैं। इस आनन्द में वे इतने आसक्त रहते हैं कि, इसको छोड़ कर मोक्ष-लाभ करने की भी उनकी इच्छा नहीं होती। पूर्वोक्त परम मोक्षप्रद पराभक्ति में भी ब्रह्म के सर्वगत होने की बुद्धि वर्तमान रहती है; अतएव यह भी उनके वात्सल्यादि भावों के अनुकूल नहीं है; इस कारण इस (परा-भक्ति-

प्राप्ति) में भी उनकी अभिलाषा नहीं होती। भगवान् ने गीता में कहा है, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"। अतएव उनकी मूर्त्ति ही में ऐसे आसक्तियुक्त साधकों के निकट भगवान् उनके ध्येयरूप ही में प्रकाशित होकर, उनके भावानुसार भोग उनको दान कर, उनके साथ विहार करते रहते हैं; देह-पतन के पश्चात् वे उसी प्रकार के विहार योग्य लोक को प्राप्त कर उसमें विराजमान रहते हैं। तदनन्तर साक्षात् भगवान् के साथ अधिकतर निर्मलता प्राप्त कर, अन्त में सम्यक् भेद-बुद्धि-रहित होकर वे अच्युतानन्द-रूप परम मोक्षपद प्राप्त करते हैं। इसी को क्रम-मुक्ति कहते हैं। मेरे श्री श्रीगुरुदेव महाराजजी के जीवन-चरित्र-ग्रन्थ के "परिशिष्ट" नामक अन्तिम अध्याय में यह सब विषय कुछ विस्तृत रूप से वर्णित है; इस अध्याय को दत्तचित्त होकर पढ़ने से इस विषय का सम्यक् तत्त्व समझ सकोगे। परन्तु यह सर्वसाधारण के हेतु प्रशस्त मार्ग (Royal road) नहीं है; भगवद्विग्रह में कान्त, वात्सल्यादि भाव बहुत ही थोड़े मनुष्यों के स्वाभाविक होते हैं; अतएव यह अनुकरणीय नहीं हैं। जिनके ऐसे भाव होते हैं, वे सहज में आपेक्षिक निर्मलता प्राप्त करते रहते हैं, और इसी के द्वारा अपने वाञ्छित फल प्राप्त करते हैं।

संक्षेपतः मैंने सख्य, वात्सल्य और कान्त-भावों की भजन-प्रणाली का वर्णन किया। इसके साथ हम लोगों के सम्प्रदाय

का कोई विरोध नहीं है; हम लोगों के सम्प्रदाय में भी किसी किसी आचार्य में ये सब भाव स्वभावतः प्रकाशित हुए थे। श्रीहरि-व्यास-देवाचार्य सखी-भाव से युगलरूप की सेवा करते थे; और वङ्ग-देश में जैसे "महाजनी पदावली" वर्तमान है, वैसे ही हम लोगों के सम्प्रदाय में भी व्रजभाषा में अत्युत्कृष्ट पदावली वर्तमान है। कथित है कि, श्रीघमण्डदेवाचार्य के निकट भगवान् ने रासानुरक्त-मूर्त्ति में प्रकाशित होकर, रासस्थान में उन्होंने जो शिरोभूषण मुकुट धारण किया था, उसको उन्हें प्रदान किया। वह मुकुट व्रज के करेला ग्राम में रक्षित था, अब मूलमुकुट नहीं है, केवल उसका अनुकरण (नक़ल) मात्र वर्तमान है। श्रीघमण्डदेवजी की शिक्षा के अनुसार रासलीला की अनेक गायक-मण्डलियाँ सृष्ट हुई हैं; वे अद्यापि व्रज में आचार्य श्रीभट्टजी की "युगलशतक" और पूर्वोक्त श्रीहरि-व्यासदेवजी की "महावाणी" इत्यादि पदावलियों का गान और लीला प्रदर्शन कर श्रोतृवर्ग को मोहित करती हैं। परन्तु साम्प्रदायिक सर्वसाधारण की साधन-प्रणाली और उनके आदर्श में इसकी गणना नहीं है। जिनमें ये भाव स्वभावतः उपजात होते हैं, वे अन्य कुछ भी नहीं चाहते, मोक्षपर्य्यन्त उनके निकट आदरणीय नहीं है, यह सत्य है। परन्तु जागतिक किसी वस्तु में किसी की इस प्रकार की आसक्ति के उपजात होने पर, उसको छोड़कर अन्य वस्तु के अत्यन्त उत्कृष्ट होने पर भी, वह उसे प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं करता

है। ऐसा सदैव सर्वत्र देखा जाता है। किन्तु उसकी अभिलाषा उस वस्तु पर न होने ही से वह वस्तु तुच्छ नहीं हो सकती। श्रुति आदि शास्त्रों में वर्णित है कि केवल मोक्ष ही सर्व-विध दुःखरहित, निरवच्छिन्न आनन्ददायक है; अन्य किसी आदर्श में निरवच्छिन्न, अक्षय आनन्द नहीं है। विचार करने से प्रतीत होगा कि, विहार-स्थल में भी विच्छेद-जनित क्लेश है, परस्त्री में प्रिय की आसक्ति देखकर निज प्रति उपेक्षा-बोधजनित दारुण दुःख उपजात होता है, और इससे अभिमान तथा अभिशाप इत्यादि क्लेशों का वर्तमान रहना पुराणादि में वर्णित है; यह सब वर्णन कर पौराणिकों ने विचक्षण पाठकों को उपदेश किया है कि, यह भी निरव-च्छिन्न आनन्दमय नहीं है, अतएव यह भी आदर्श-स्थानीय आनन्द मान कर ग्रहण करने के योग्य नहीं है। इसमें सन्देह नहीं है कि, पुराणों में इस आनन्द और आनन्ददायक लोक-समूह के सम्बन्ध में अनेकानेक प्रशंसासूचक वाक्य भी हैं। भगवद्विग्रह के प्रति उक्त प्रकार का प्रेम और लोक-समूह तथा भगवत्-सान्निध्य-प्राप्ति ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ हैं, और इसके समान और कुछ नहीं है,—ऐसा पुराणादि में वर्णन है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु इन सब प्रशंसा-सूचक वाक्यों की प्रमाण में गणना नहीं है। श्रुति-वाक्यार्थ के विचार में भी जब प्रमाण स्थल में प्रशंसा-सूचक वाक्यों का ग्रहण करना निषिद्ध है, तब अपेक्षा-कृत कनिष्ठाधिकारियों के प्रवृत्ति-उत्पादन

के निमित्त व्यवहृत प्रशंसा-सूचक पौराणिक वाक्य प्रमाण रूप से कभी ग्रहण नहीं किये जा सकते, इस बात में क्या संशय है ? पार्थिव-काशी इत्यादि पुरियों और तीर्थों के सम्बन्ध में भी ठीक वैसे ही प्रशंसा-सूचक वाक्य पुराणों में स्थान स्थान पर व्यवहृत हैं; ये सब वाक्य भी उन उन तीर्थों के सम्बन्ध में प्रवृत्त्युत्पादक वाक्य करके ग्रहण किये जाते हैं, सत्य-प्रमाण कहकर ग्रहण नहीं किये जाते। सत्य-प्रमाण कहकर इनको ग्रहण करने पर, भिन्न भिन्न तीर्थस्थानों और पुरियों के सम्बन्ध में ये सब वाक्य परस्पर विरोधी हो जाते हैं। वास्तव में यह सर्वशास्त्र-सम्मत है कि, स्पष्ट श्रुतिवाक्य के विरोधी अन्य कोई भी वाक्य प्रमाणरूप से गृहीत होने के योग्य नहीं हैं। श्रुतियों ने जब मोक्षपद ही को एकमात्र नित्य, सर्वदुःखनिवारक तथा नित्यानन्ददायक कहकर वर्णन किया है, तो उसको परित्याग कर इन सब प्रशंसासूचक वाक्यों को प्रमाणरूप से ग्रहण करना कैसे संगत हो सकता है ?

परन्तु सत्य के अनुरोध से जो मैंने कहा उसके द्वारा तुममें ऐसी धारणा न होनी चाहिए कि, वैकुण्ठादि भगवद्विहार लोक-समूह एक एक प्रकार के स्वर्ग-लोक-विशेष हैं। वास्तव में स्वर्गलोक और इन सब लोकों में बहुत प्रभेद हैं। इस संसार में देह-त्याग के पश्चात् यथार्थ सत् और उत्तम मनुष्यों की द्विविध गति होती है; उनमें एक धूम-मार्ग और अन्य अर्चिरादि-मार्ग के नाम से शास्त्रों में आख्यात हैं। सकाम परन्तु

अति पुण्यात्मा जीव देहान्त के पश्चात् पूर्वोक्त धूम-मार्ग को प्राप्त होकर उसके द्वारा स्वर्ग-लोक में गमन करते हैं, और वहाँ अपने अपने स्वर्ग-सुख-भोगोपयोगी कर्म्मानुरूप स्थानों को प्राप्त होते हैं। वहाँ नानाविधि उत्कृष्ट भोगों के द्वारा उनके उन सब पुण्य-कर्म्मों के क्षय-प्राप्त होने पर, वे स्वर्ग-लोक से भ्रष्ट होकर इस मर्त्य-भू-लोक में पतित होते हैं, और इस लोक के भोगोपयुक्त अवशिष्ट कर्म्मानुसार पुनर्जन्म प्राप्त कर, पुनः कर्म्म करने में प्रवृत्त होते हैं; वे उन कर्मों के अनुसार पुनः परलोक-प्राप्ति तथा पुनः इह-लोक में जन्म-ग्रहण करते हैं— उनके इस प्रकार के गमनागमन निरन्तर हुआ करते हैं। अतएव धूममार्ग-द्वारा स्वर्ग-लोक गमनकारी मनुष्यों के संसार में गमनागमन तथा सांसारिक सुख:दु:खादि भोग की निवृत्ति नहीं होती। परन्तु जो लोग पूर्वोक्त सख्य, वात्सल्यादि भावों से भजन-द्वारा अथवा पूर्ववर्णित भक्ति किंवा ज्ञान-मार्गीय निष्काम भजन के अवलम्बन-द्वारा सिद्धमनोरथ हुये हैं, वे देहान्त के पश्चात् धूममार्ग को न प्राप्त होकर, आर्चरादि मार्ग को प्राप्त होते हैं; इस मार्ग में तड़िद्वेग से अग्रसर हो सूर्यमण्डल को भेद कर, वे अन्त में क्रमशः भगवल्लोक को प्राप्त होते हैं। बहुतेरे लोग स्वीय स्वीय भजनानुकूल उन्हीं सब लोकों में वास कर कृतकृत्य होते हैं। और जो लोग जीवन-काल ही में ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ब्रह्मज्ञ हुये हैं (इनकी संख्या प्रत्येक युग में अत्यल्प जानना), वे उन सब भगवल्लोकों को अतिक्रम कर, नामरूप

विवर्जित होकर, मोक्षस्वरूप आनन्दमय परब्रह्मरूप को प्राप्त होकर, निज विशुद्ध ज्ञानात्मक रूप से अच्युतानन्द में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। इसी को सद्य-मुक्ति कहते हैं। जो लोग वैकुण्ठ-गोलोकादि भगवद्धाम में वास प्राप्त करते हैं, उनको भी साधारणतः मर्त्यलोक में पुनरागमन कर जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता है। भोग-द्वारा पुण्य के क्षीण होने पर, यथा स्वर्गवास-प्राप्त पुण्यात्मा मनुष्यों का मर्त्यलोक में पतन होता है, तद्रूप इनका पतन नहीं होता। मर्त्यलोक में अधिक क्लेश-दर्शन से दयार्द्रचित्त होकर कभी कभी वे वहाँ (मर्त्यलोक में) अवतार लेते हैं, किन्तु देहत्याग के पश्चात् वे पुनः अपने अपने स्थान को प्राप्त होते हैं। उनमें से किसी के चित्त में यदि वैषयिक मलिनता किञ्चिन्मात्र रह गई, तो उसको दूर करने के हेतु भगवदिच्छा से किसी न किसी कारण से, यथा अभिसम्पातादि वश, उनका भी (यथा जय, विजयादि का) मर्त्यलोक में पतन होना पुराणादि में वर्णित है, यह सत्य है; किन्तु इस प्रकार का पतन निर्दिष्ट काल-मात्र स्थायी है। उस निर्दिष्ट काल के व्यतीत होने पर, वे शुद्धचित्त होकर भगवल्लोक में पुनः अपने अपने स्थान को प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् वहाँ निरन्तर भगवत्संग हेतु क्रमशः भेदबुद्धि-विवर्जित होकर, वे परम-मोक्ष-पदलाभ के अधिकारी होते हैं, और तदनन्तर मोक्ष-पद प्राप्त करते हैं। यह क्रम-मुक्ति नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है। यह मुक्ति-

लाभ एक ही कल्प में न होकर कल्पान्तर में उक्त लोकसमूह में जन्मग्रहणानन्तर भी हो सकता है। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ ही में उल्लिखित है कि, भगवान् नारदजी ने वेद-व्यासजी के समीप अपनी पूर्वजन्म की कथा वर्णन करते करते कहा है कि, बाल्यकाल ही में साधुसङ्गवश साधुओं की कृपा से उनमें वैराग्य तथा भक्ति उत्पन्न हुई थी; और दैवयोग से शीघ्र ही उनकी (नारदजी की) माता का वियोग हुआ था। तब वे निश्चिन्त होकर वन में जाकर सुमहत्तपस्या में प्रवृत्त हुये, और अन्त में उन्होंने भगवद्दर्शन प्राप्त किया। तत्पश्चात् जीवन के अवशिष्ट काल के व्यतीत होने पर, उन्होंने भगवल्लोक में गमन कर भगवत्-पार्षदत्व प्राप्त किया; तदनन्तर कल्प का अवशिष्ट काल वहाँ यापन करने के पश्चात्, प्रलय-काल में समस्त जागतिक जीवों की भाँति वे भी भगवत्-अङ्ग में लीन हो गये। प्रलयान्त में पुनः सृष्टि के प्रकाशित होने पर, वे भी ब्रह्मपुत्ररूप से पुनः वर्तमान कल्प में जन्मग्रहण कर, (पूर्ण ब्रह्मवित्) नारद ऋषिरूप में प्रतिष्ठित हुये। अतएव यह विचार न करना चाहिये कि, भगवल्लोक प्राप्त करने ही से सबका अन्त हो जाता है, और जीव यथार्थ पूर्णानन्द प्राप्त करता है। प्राकृतिक प्रलय में जो गोलोकवासी समस्त जीव लय-प्राप्त होते हैं, यह किसी न किसी पुराण में स्पष्टरूप से उल्लिखित है। यथा:—ब्रह्मवैवर्त-पुराणान्तर्गत प्रकृतिखण्ड के द्वितीय अध्याय में स्पष्टरूप से वर्णित है कि, प्रलय-काल में केवल श्रीकृष्णजी ही वर्तमान थे। सृष्टि-

रचना के पश्चात् गोलोक गोपगोपीसमूह द्वारा पूर्ण हुआ। ("लये कृष्णयुतं, सृष्टौ गोपगोपीभिरावृतम्")। भगवत् पार्षदादि की देह को नित्य कहकर पुराणादि में जो वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है कि, वर्तमान महाकल्प में उन सब देहों का पतन नहीं होता; इसी प्रकार के अर्थ में देवतासमूह भी "अमर" नाम से आख्यात हैं, किन्तु यह अमरत्व तथा नित्यत्व आपेक्षिक अमरत्व तथा नित्यत्व हैं, इसका केवल यही आशय है कि मनुष्यादि जीवों की भाँति वे पुनः पुनः दृष्टतः मरणशील नहीं हैं। कल्पान्त में पहिले ही भूलोक विनष्ट होता है, अतएव स्वर्लोकस्थ अमरवृन्द का तथा तदूर्द्ध्वस्थ अपर समस्त लोकों का पतन मनुष्यादि किसी के दृष्टिगोचर नहीं होता; इसी कारण उक्त सम्बन्ध में अमर तथा नित्य शब्द का प्रयोग हुआ है, यह निपट अलीक और अर्थशून्य नहीं है। इसके जानने पर पुराण-वाक्यार्थ-विचार करते समय भ्रम में पतित होने की सम्भावना बहुत कम है।

दास्य-भाव-साधन जानने की इच्छा तुमने प्रकट की है—अपनी सम्प्रदाय की साधन-प्रणाली वर्णन करते समय मैंने भाषान्तर में इसकी (दास्यभाव की) व्याख्या की है। दास शब्द का आशय स्वातन्त्र्य-रहित तथा सम्पूर्ण रूप से अधीन होना है। यदि किसी विषय में किसी प्रकार का स्वातन्त्र्यबोध रहे, तो जिस परिमाण में स्वातन्त्र्य-बोध रहेगा, उसी परिमाण में दासत्व की हानि होगी। जो

पूर्णरूप से दास हैं; वे प्रभु के अङ्गविशेष-स्वरूप हैं, जैसे तुम्हारा हस्त तुम्हारे शरीर का एक अङ्ग है। इसका स्वातन्त्र्य कुछ भी नहीं है, तुम्हारे संचालित करने से वह संचालित होता है, तुम जिस स्थान पर जिस अवस्था में उसे रखते हो, उसी स्थान पर उसी अवस्था में वह रहता है। एतदवस्थापन्न दास का प्रभु ही नियन्ता—आत्मा है, प्रभु से भिन्न बोध उसका नहीं है। वेदान्त दर्शनान्तर्गत चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के तृतीय सूत्र में जो उल्लिखित है कि, साधक-अवस्था में भी ब्रह्म ही को अपनी (शिष्य की) आत्मा करके धारणा करने का गुरुजी शिष्य को उपदेश देंगे, वह इस दास्य-भाव-साधन के अन्तर्गत है; साधक सदैव अपने को सम्पूर्ण रूप से भगवदधीन समझकर और उन्हीं को अपनी आत्मा मानकर ध्यान करेगा। यही सर्वोत्तम अधिकारी के पक्ष में उपदेश है। जो लोग अपेक्षा-कृत कनिष्ठाधिकारी हैं, वे भी अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस दास्य-भाव का आशय हृदयङ्गम कर अपने को उस भाव में निविष्ट करने का प्रयत्न करेंगे; इसी भाँति प्रयत्न करते करते उनका सर्व प्रकार का अभिमान दूर हो जायगा, और वे क्रमशः उच्चाधिकारी का स्थान प्राप्त करेंगे। सर्व-साधारण वैष्णवों के लिये यह दास्यभाव-साधन ही प्रशस्त साधन है, और सर्व-साधारण के निमित्त हम लोगों के सम्प्रदाय में इस प्रकार का साधन गृहीत है।

———

चतुर्थ अध्याय।

एकान्ताद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त।

विषयः—शङ्कराचार्य का अद्वैतसिद्धान्त, और रामानुज स्वामी का विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त, और इनमें दोष और गुण।

शिष्यः—श्रीमच्छङ्कराचार्य का एकान्ताद्वैतमत क्या है और श्रीमद्रामानुजस्वामी का विशिष्टाद्वैतमत क्या है; और श्रीनिम्बार्कोपदिष्ट भेदाभेद (द्वैताद्वैत) मत के साथ इन सब मतों का पार्थक्य क्या है, यह सुस्पष्ट रूप से वर्णन कीजिये; और इन मतों की कुछ समालोचना भी सुनने की इच्छा है, जिससे भेदाभेद मत को अच्छी तरह से समझने में सुविधा हो।

गुरुः—श्रीमच्छङ्कराचार्य का अद्वैतवाद।

श्रीमच्छङ्कराचार्य का मत आजकल बङ्गदेश में बहुत प्रचारित है; उनका प्रणीत वेदान्त-दर्शन-भाष्य बहुत पहिले बङ्ग-भाषा में अनुवादसहित मुद्रित हुआ है; और उनके प्रणीत विवेकचूड़ामणि आदि अनेक ग्रन्थ भी बङ्ग-देश में बहु परिमाण से प्रचारित हैं; सुतरां उनका मत न्यूनाधिक परिमाण से बहुत लोगों को परिज्ञात है। अतएव मैं संक्षेप रूप से ही इसका वर्णन करता हूँ:—

१। ब्रह्म अद्वितीय सत्पदार्थ है; वह सर्वविध गुण-वर्जित, तथा वाक्य, मन और बुद्धि के परे है; अतएव सर्व प्रकार से धारणा के अयोग्य है; किसी साधन के द्वारा वह जाना नहीं जा सकता।

२। यह जगत् केवल नाम-रूपात्मक है। सत्स्वरूप ब्रह्म में इस नाम-रूपात्मक जगत् का भ्रम हुआ करता है, यह भ्रम अनादि है। अतएव जगत् भ्रम-मात्र है, इसकी सत्यता कुछ नहीं है। जैसे मरु-भूमि में मरीचिका का भ्रम होता है तथा शुक्ति में जल अथवा रजत दृष्ट होता है (वास्तव में यह भ्रम-मात्र है), तथा जैसे अन्धकारमय स्थल में रज्जु में सर्प-भ्रम होता है (वस्तुतः सर्प का होना मिथ्या है); वैसे ही सद्ब्रह्म में भी यह जगत्-रूप भ्रम घटित होता है, वास्तव में जगत् मिथ्या, भ्रम-मात्र है। इस भ्रम का नाम अविद्या अथवा माया है।

३। जीव का जीवत्व भी भ्रममूलक अविद्या-कल्पित है। वास्तव में स्वजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदरहित एक अखण्ड ब्रह्म ही केवल सत्य है; जीव वही ब्रह्म है, ब्रह्म के साथ जीव का किञ्चिन्मात्र भी प्रभेद नहीं है। अहङ्कार-रूप अविद्या-कल्पित एक मानसिक वृत्ति में जो आत्मबुद्धि है उसी को जीवत्व कहते हैं; यह भ्रम-मात्र है। जैसे जल के तरङ्गायित होने पर, उसमें पतित चन्द्रबिम्ब के बहुसंख्या में दर्शन होने के कारण, अनेक चन्द्र प्रतीत होते हैं, वैसे ही जीव भी

अविद्यावश अनेक प्रतीत होते हैं; जीव तरङ्गायित जल में पतित चन्द्र-प्रतिबिम्ब-स्थानीय हैं। वास्तव में एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

४। यह ब्रह्म केवल श्रुति-प्रमाणगम्य है। श्रुति-प्रमाण-द्वारा यह भ्रमात्मक जगत्-ज्ञान जब दूरीभूत होता है, जब एक-मात्र ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है, ऐसा निश्चित ज्ञान उपजात होता है, तब जीव स्वीय नित्य-सिद्ध ब्रह्मरूप में स्वतः प्रकाशित होता है। जैसे सूर्यदेव नित्य ही प्रकाशरूप में वर्तमान हैं, उनके आच्छादक मेघ के अपसारित होने पर, वे स्वीय स्वरूप में ही प्रकाशित रहते हैं, और उनके स्वरूप में तद्द्वारा कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है; वैसे ही जगत्-रूप-भ्रम के विदूरित होने पर, जीव स्वीय ब्रह्मरूप में प्रकाशित होता है। इसी का नाम मोक्ष है। यह मोक्ष ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; अतएव मोक्ष एक स्वतःसिद्ध वस्तु है, यह किसी कर्म्म का फल नहीं है, यह कर्म्म-साध्य नहीं है। रज्जु में सर्प-भ्रम होने पर, जैसे किसी भ्रम-शून्य विश्वस्त मनुष्य के वाक्य-द्वारा वह भ्रम दूरीभूत होता है, और रज्जु-ज्ञान स्वतः ही प्रकाशित होता है; वैसे ही उपनिषद्-वाक्य-द्वारा जगत् की भ्रम-मूलकता और एक-मात्र ब्रह्म की सत्यता के ज्ञात होने पर, ब्रह्म-स्वरूप अपने ही से प्रकाशित होता है। उपासना एक मन का कार्य है; मन किसी न किसी गुण ही का अवलम्बन कर सकता है, निर्गुण पदार्थ का अवलम्बन नहीं कर सकता

है। ब्रह्म निर्गुण है, अतएव उपासना-द्वारा वह प्रकाशित नहीं हो सकता। वेदान्तवाक्य-श्रवण द्वारा जो जगत् का भ्रमात्मकता-विषयक निश्चित ज्ञान उपजात होता है, उसके द्वारा उस भ्रम के दूरीभूत होने पर, ब्रह्मस्वरूप स्वतः प्रकाशित होता है। यह ज्ञान ही अज्ञाननाशक है, यह केवल वेदान्तोपदेशश्रवण-द्वारा उपजात होता है, किसी उपासना अथवा अन्य कर्म्मों के द्वारा नहीं; कारण, सर्वविध कर्म्म ही अज्ञानमूलक हैं।

५। ब्रह्मात्मकता का प्रकाशरूप-मोक्ष जीव को जीवित-काल ही में हो सकता है। इस मोक्ष के प्रकाशित होने पर, जीव का कोई लौकिक व्यवहार नहीं रहता, वह स्वतः-सिद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है। अद्वैत ब्रह्मज्ञान के प्रकाशित होने पर, सर्वविध भेद-ज्ञान के विलुप्त होने से, उस भेद-ज्ञान के अवलम्बन द्वारा जो प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता इत्यादि वस्तु-रूप से दृष्ट हुये थे, वे सब विलुप्त हो जाते हैं; अतएव मोक्षस्थित पुरुष का सर्वविध व्यापार विलुप्त होता है।

६। यावत्कालपर्य्यन्त अविद्या वर्तमान रहती है, तावत्-काल पर्य्यन्त व्यवहारसमूह वर्तमान रहता है, शास्त्रीय व्यवहार-विषयक उपदेश अविद्या के वर्तमान रहने तक पाल-नीय हैं।

७। यह सत्य है कि, श्रुति में ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-मान् तथा जगत् का सृष्टि-स्थिति-लय-कारण—अतएव ईश्वर-पद-

वाच्य कह कर वर्णन किया है; किन्तु ये समस्त गुण उसके स्वरूप में नहीं हैं—औपचारिक हैं, केवल अविद्यामूलक जगत के प्रति लक्ष्य कर ब्रह्म में आरोपित हुये हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय सद्वस्तु नहीं है, वही एक-मात्र प्रकाश-स्वभाव वस्तु है। जिस भाँति प्रदीप प्रकाशात्मक वस्तु होकर, निज-स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, तथा गृहस्थित अपरवस्तु-समूह को भी प्रकाशित करता है; वैसे ही एक-मात्र सद्वस्तु होने के कारण, स्व-प्रकाश ब्रह्म ही जगद्रूपभ्रम का भी प्रकाशक कहकर वर्णन किया जाता है। इसी अर्थ में श्रुतियों ने ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्वादि गुणों का वर्णन किया है। वास्तव में ऐसा न समझना चाहिये कि, उन सब श्रुतियों ने ब्रह्म के निजस्वरूप में किसी गुण की विद्यमानता वर्णन की है। कारण यह है कि, ब्रह्म के स्वरूपावधारक सर्व-श्रुतियों ने ब्रह्म को निर्गुण कहकर वर्णन किया है; उन सब श्रुतियों के द्वारा गुणात्मकता-वर्णनकारिणी समस्त श्रुतियाँ बाधित हुई हैं।

८। जगत्-ज्ञान तथा जीव-बुद्धि का कारण अविद्या कही गई है। इस अविद्या का स्वरूप अवधारित किया जाय तो देखने में आता है कि, यह ब्रह्म-स्वरूपाश्रित वस्तु नहीं हो सकती; कारण, ऐसा कहने से अविद्या नित्य वस्तु तथा अविनाशी हो जाती है, अतएव मोक्ष असम्भव हो जाता है, और ब्रह्म का स्वरूप ही अविद्या से कलुषित हो जाता है। ईश्वर अद्वैत वस्तु

है और द्वितीय वस्तु कोई भी नहीं है जिसके आश्रयभूत होकर अविद्या रह सकती हो; अतएव अविद्या के ब्रह्माश्रित पदार्थ होने से, ब्रह्म भी जीववत् दोषयुक्त (अज्ञानी) हो जाता है; यह श्रुति-विरुद्ध है। यदि यह अविद्या ब्रह्मस्वरूपाश्रित न कही जाय, तो इसी को एक स्वतन्त्र वस्तु कह कर मानना पड़ता है; परन्तु इसमें ब्रह्म के अद्वैतत्व की हानि होती है; और सत् का विनाश नहीं है, अतएव अविद्या को भी अविनाशी वस्तु मानना पड़ता है, सुतरां मोक्ष की सम्भावना नहीं रहती। अतएव शङ्कराचार्यजी ने कहा है कि, अविद्या "तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीया" अर्थात् अविद्या न तो ब्रह्म कही जा सकती है और न ब्रह्मभिन्न, यह न तो सद्वस्तु है और न असद्वस्तु, यह एक अनिर्वचनीय पदार्थ, भोजविद्या-स्वरूप है।

जहाँ तक मैंने समझा है, मैंने शाङ्करिक मत संक्षेपतः वर्णन किया। अब श्रीमद्रामानुज स्वामी का विशिष्टाद्वैतवाद निजबोधानुकूल वर्णन करूँगा।

विशिष्टाद्वैतवाद

१। 'विशिष्ट' शब्द का अर्थ विशेषणयुक्त है; 'विशेषण' शब्द गुणवाचक है; अतएव विशिष्ट शब्द का अर्थ गुणयुक्त, सगुण। ब्रह्म सत्पदार्थ है; किन्तु वह निर्गुण नहीं है, वह गुण-विशिष्ट है; सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्वादि गुण नित्य उसके स्वरू-

पाश्रित हैं। "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि निर्गुणत्व प्रतिपादक श्रुति-समूह ने उसको जो निर्गुण कह कर वर्णन किया है, उसके द्वारा यह प्रकाशित होता है कि, उस (ब्रह्म) में शब्द-स्पर्श इत्यादि प्राकृतिक गुणसमूह वर्तमान नहीं हैं; उसके द्वारा ब्रह्म के स्वभावसिद्ध सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्वादि गुणों का प्रतिषेध नहीं होता।

यह सर्व प्रकार के वैष्णव-सम्प्रदाय के सम्मत है कि ब्रह्म सदैव सर्वज्ञत्वादि गुणसम्पन्न है, एकान्त निर्गुण नहीं है। समस्त शाक्त-सम्प्रदाय भी, ब्रह्म की शक्तिमत्ता को स्वीकृत कर, इसी शक्ति की उपासना किया करते हैं। वास्तव में जो लोग किसी प्रकार की भी उपासना की सार्थकता को स्वीकार करते हैं, उन सभों को ब्रह्म की शक्तिमत्ता स्वीकार्य है। परन्तु केवल यही श्रीमद्रामानुज-स्वामी द्वारा व्याख्यात विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त नहीं है, इसका और भी विस्तृत रूप से नीचे वर्णन किया जाता है।

२। जीव स्वरूपतः ज्ञानात्मक, तथा बहुसंख्यक हैं; ज्ञानाकार में जीवसमूह के स्वरूप ठीक एक प्रकार के हैं—सदृश हैं; देव-मनुष्यादिरूप से जो भेद जीव में किया जाता है यह सत्य नहीं है; इसी को निषेध करने के हेतु जीव के एकत्व विषयक वाक्य-समूह शास्त्र में उपदिष्ट हुये हैं; केवल अनादि कर्म्म के हेतु उनके फल-भोग के निमित्त जीवों का देव, मनुष्य, तिर्य्यगादि देह-संबन्ध घटित होता है। भगवदुपासना तथा

परिचर्य्या के द्वारा जीव के कर्म्म के सम्पूर्ण रूप से क्षीण होने पर, भगवत्कृपा से जीव केवल ज्ञानरूपता में प्रतिष्ठित होता है; इसी को मोक्ष कहते हैं। परन्तु जीव में देह के साथ सम्बन्ध-विशिष्ट होने की योग्यता स्वाभाविक है, अतएव मोक्षावस्था में भी यह जीव को परित्याग नहीं करता। स्वरूप में ज्ञानात्मक होने के कारण, जीव का स्वरूप चिदादि शब्दों के द्वारा श्रुतियों में आख्यात है।

३। दृश्यस्थानीय जगत् मिथ्या नहीं है; यह अचेतन-स्वभाव और जीव का भोग्य है; यह 'अचित्' शब्दवाच्य तथा विनाशयोग्य है। शरीर-मात्र ही परिवर्तनशील और विनाश-शील है; अतएव श्रुति में यह 'असत्' शब्द द्वारा व्याख्यात है। आत्मा को छोड़ कर स्वतन्त्ररूप से शरीर वर्तमान नहीं रह सकता, यह आत्मा ही का एक प्रकार का धर्म्म-स्वरूप है।

४। चित्, अचित् (चेतनाचेतन) की मिलित समष्टि (जिसको "संघात" कहते हैं वह) ही जगत् का उपादान कारण है; यह "समष्टि" ब्रह्म का बहिरङ्ग, शरीर है। इसी अर्थ में ब्रह्म को जगत् का उपादान कहकर श्रुतियों ने वर्णन किया है; वास्तव में यह ब्रह्म के स्वरूपभुक्त नहीं है; जीव और जगत् इन दोनों के साथ ब्रह्म का शरीर-शरीरि-सम्बन्ध है। श्रीमद्रामानुज स्वामी ने कहा है "कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूल-सूक्ष्म-चिदचिद्वस्तु-शरीरः परम-पुरुषः,......स्थूल-सूक्ष्म-चिदचित् प्रकारं ब्रह्मैव कार्य्यं

कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत् । सूक्ष्मचिदचिद्वस्तु-शरीरं ब्रह्मैव कारणम् ।" अर्थात् कार्य तथा कारण रूप में अवस्थित जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म, चेतन, अचेतन वस्तुयें हैं, परमात्मा तद्रूप शरीरविशिष्ट है । ...... स्थूल-सूक्ष्म चिदचित् "**प्रकार**" विशिष्ट ब्रह्म ही कार्य तथा कारण है, इसी अर्थ में ब्रह्म को जगत् का उपादान कहते हैं । अर्थात् **सूक्ष्म** चिदचिद्वस्तुरूप शरीर-विशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल जगत् का कारण है । इन वाक्यों को और भी परिष्कृत करने के अभिप्राय से श्रीमद्रामानुज स्वामी ने कहा है :—

"ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वे चिदचितो ब्रह्मणश्च स्वाभावासङ्करोऽप्युपपन्नतर: । यथा शुक्ल-रक्त-कृष्ण-तन्तु-संघातोपादानत्वेऽपि, चित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्लादि-सम्बन्ध, इति कार्य्यावस्थायामपि न सर्वत्र सङ्कर:, तथा चिदचिदीश्वरसंघातोपादानत्वेऽपि जगत: कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्व-भोग्यत्व नियन्तृत्वाद्यसङ्कर: । तन्तूनां पृथक् स्थिति-योग्यानाम् एव पुरुषेच्छया कदाचित् संहतानां कारणत्वकार्य्य-त्वञ्च । इह तु सर्वावस्थावस्थयो: परमपुरुषशरीरत्वेन चिद-चितोस्तत् **प्रकार**तयैव पदार्थत्वात्, तत्प्रकार: परमपुरुष: सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेष: । स्वभावभेदस्तदसंकरश्च तत्र चात्र च तुल्य: ।"

अर्थ:—यह सत्य है कि, (साधारणत:) ब्रह्म ही जगत् का उपादान कहकर वर्णित है, परन्तु वास्तव में चिदचित् की

सूक्ष्म समष्टि ("संघात") ही जगत् का उपादान है; अतएव इस चिदचित् वस्तुसमूह का स्वभाव (धर्म्मसमूह) ब्रह्म के स्वभाव के साथ संक्रामित कभी नहीं होता है। जैसे शुक्ल, रक्त, और कृष्ण वर्णों से पृथक् पृथक् रञ्जित, (परन्तु एकत्र मिलित,) तन्तुसमूह के द्वारा निर्मित वस्त्र के भिन्न भिन्न अंशों ही में शुक्लादि वर्णों का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, वस्त्र के सब अंशों में सब वर्णों का संक्रमण नहीं होता है; वैसे ही चित्, अचित् और ईश्वर इन तीनों की समष्टि के जगत् का उपादान होने पर भी, प्रकाशित कार्य्यावस्थापन्न जगत् में भी भोक्तृत्व (जीवत्व), भोग्यत्व (अचेतनत्व) और नियन्तृत्व (ईश्वरत्व), इन तीन पृथक् पृथक् धर्म्मों का पारस्परिक संक्रमण (विमिश्रण) नहीं होता है।

तन्तुसमूह परस्पर पृथक् पृथक् रहते हैं और रह सकते हैं; वस्त्रकर्त्ता की इच्छा के अनुसार एकत्रित और मिलित होते हैं, और मिलित होकर कारणस्थानीय सूत्ररूप से तथा कार्य-स्थानीय वस्त्ररूप से वर्तमान रहते हैं; किन्तु जागतिक चेतनाचेतन वस्तुसमूह, सर्वावस्था में परमपुरुष के शरीरस्थानीय होने के कारण, उसी (परमपुरुष) के "**प्रकार**" **विशेषरूप** से नित्य अवस्थित है; इस कारण यह चेतनाचेतन "प्रकार" विशिष्ट परमात्मा सदैव "सर्व" शब्दवाच्य है (अर्थात् वही एतत्समस्त है, ऐसा कहा गया है)। किन्तु दृष्टान्तस्थल में जैसे तन्तुसमूह की प्रकृति का भेद सदैव

वर्त्तमान रहता है, एक का धर्म्म अन्य किसी के साथ कदापि संक्रामित नहीं होता है (रक्तवर्णतन्तु कभी शुक्ल अथवा कृष्ण वर्ण नहीं होती), वैसे ही यहाँ भी चित् (जीव), अचित् (जड़वर्ग), तथा ईश्वर, इनके स्वभावगत धर्मसमूह सदैव पृथक् ही रहते हैं; इस विषय में दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त दोनों बराबर हैं।

भाष्यकार ने पुनः और भी स्पष्टरूप से कहा है:— "चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावम्; शरीरभूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्मदशापत्तिम्, कार्यदशायाञ्च तदर्हस्थूलदशापत्तिम्, वदन्तीभिः श्रुतिभिरेव ज्ञायते"।

अर्थ:—चेतनाचेतन वस्तु और परमात्मा में सदैव शरीर-शरीरि-संबन्ध है। शरीरस्थानीय चेतनाचेतन पदार्थ कारणावस्था में नामरूप-विभाग-वर्जित होकर सूक्ष्म भाव से वर्तमान रहते हैं, कार्यावस्था (प्रकाशित जगदवस्था) में नामरूपविशिष्ट होकर स्थूल भाव से विराजमान रहते हैं। श्रुतिसमूह के वाक्यों से यही प्रतीत होता है।

५। मुक्तावस्था में भी जीव स्वरूपतः ब्रह्म के साथ एकत्व-लाभ नहीं कर सकता है। भाष्यकार ने कहा है:—

"नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्य-सम्भवः, अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदर्हत्वान्न सम्भवात्"।

अर्थः—साधनानुष्ठान-द्वारा अविद्या से मुक्त होने के पश्चात् भी, परमात्मा के साथ जीव की एकरूपता नहीं होती ; कारण, जब अविद्या के आश्रित होने की योग्यता जीव का स्वभावगत धर्म्म है, तब वह धर्म्म कभी परित्यक्त नहीं हो सकता; (किन्तु परमात्मा के स्वरूप में ऐसी योग्यता कदापि नहीं है; इस स्वरूपगत भेद के रहने के कारण, मुक्तावस्था में भी जीव परमात्मा के साथ एकरूपता प्राप्त नहीं कर सकता)। **स्थूल और सूक्ष्म जड़वर्ग तथा जीव (इन दोनों) के संघातरूप शरीरविशिष्ट, अशेष कल्याणगुण-सम्पन्न ब्रह्म एक अद्वैत है; इस अर्थ में विशिष्टाद्वैत शब्द व्यवहृत हुआ है।** यही श्रीमद्रामानुज स्वामी का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है।

श्रीमद्रामानुज स्वामी द्वारा प्रचारित विशिष्टाद्वैत-वाद मैंने संक्षेपतः वर्णन किया। श्रीमद्रामानुज स्वामीकृत वेदान्त-दर्शन के भाष्य को श्रीभाष्य कहते हैं। इस भाष्य में उन्होंने हम लोगों के भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सिद्धान्त के प्रति यह दोषारोपण किया है कि, "भेदाभेदवादे तु ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गात् तत्प्रयुक्ताः जीवगता दोषा ब्रह्मण्येव प्रादुयुरिति निरस्तनिखिलदोष—कल्याणगुणात्मक—ब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विरोधादेव परित्यक्ताः स्युः"।

अर्थः—भेदाभेद-वाद में ब्रह्म के स्वरूप ही में उपाधि की विद्यमानता स्वीकृत की जाती है, अतएव उपाधिप्रयुक्त जीव

में जो समस्त दोष (दुःखपापादि) वर्तमान हैं, वे ब्रह्म में भी वर्तमान हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। अतएव सर्वविध-दोष-वर्जित तथा सर्वविध-कल्याण-गुणात्मक ब्रह्म के साथ जीव का अभेदोपदेश (युक्ति और शास्त्र विरुद्ध कहकर) परित्याज्य है।

श्रीमच्छङ्कराचार्य ने भी इस द्वैताद्वैत सिद्धान्त की समालोचना अपने भाष्य में की है। उन्होंने कहा है:—

"सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः, 'सर्वकर्म्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः' इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः। 'अस्थूलमनन्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः।...... तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः। न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतञ्चेत्यभ्युपगन्तुं शक्यं, विरोधात्।......अतः....निर्विकल्पमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्।" सर्वत्र हि ब्रह्मप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते।" वेदान्तभाष्य ३ अध्याय, द्वितीयपाद, ११ श सूत्र।

अर्थः—यह सत्य है कि, ब्रह्म के उभय लिङ्गों के प्रतिपादक श्रुतिसमूह हैं। यथा "सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यादि; ये सब श्रुतियाँ ब्रह्म का सविशेषभाव (सगुणत्व)

प्रतिपादित करती हैं । पुनः "अस्थूलमनन्वह्रस्वमदीर्घम्" इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्म का निर्गुणत्व प्रतिपादित करते हैं।......श्रुतियों के उभयलिङ्गबोधक होने के कारण, ब्रह्म को उभयलिङ्गयुक्त मानना चाहिये, ऐसा ही पहिले प्रतीत होता है। वास्तव में ऐसा नहीं है; ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि, एक ही वस्तु रूपादिविशिष्ट अथच तद्विपरीत हो, कारण, ये दोनों (गुण) परस्परविरोधी हैं। अतएव ब्रह्म को एकरूप ही कहना पड़ेगा। वह अवश्य निर्गुण रूप है, कारण, ब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों में (जैसे "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि वाक्यों में) सर्वत्र ब्रह्म निर्गुण ही कह कर निर्दिष्ट है।

श्रीमच्छङ्कराचार्य की इस आपत्ति के सम्बन्ध में मैं इस स्थल में संक्षेपतः यह कहता हूँ कि, ब्रह्मसम्बन्ध में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। ब्रह्म के अतीन्द्रिय पदार्थ होने के कारण, और अनुमान के केवल इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्ष पर निर्भर होने के कारण, ब्रह्मसम्बन्ध में अनुमान प्रमाण करके गण्य नहीं हो सकता; श्रीमच्छङ्कराचार्य ने भी स्वीय भाष्य में ऐसा ही वर्णन किया है। परन्तु श्रुतियों ने जब ब्रह्म को उभयलिङ्ग कहकर वर्णन किया है, तब उसे अग्राह्य कर, केवल अनुमान के आधार पर, ब्रह्म की एकरूपता स्थापित करना असंगत है। और सगुणत्व-विषयक श्रुतियों को मिथ्या कह कर अग्राह्य करने पर, निर्गुणत्व-विषयक श्रुतियों की भी प्रामाणिकता

नहीं रहती; कुछ श्रुतियों के प्रमाण-रूप से अग्राह्य होने पर, अन्य सब श्रुतियों की भी प्रमाण-रूप से गृहीत होने की योग्यता नष्ट हो जाती है; और ब्रह्म-विषय में आधारयोग्य कोई प्रमाण ही नहीं रह जाता है। परन्तु, वास्तव में, श्रुति-वाक्यों में कुछ भी विरोध नहीं है; "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि पूर्वोक्त कठश्रुति में ब्रह्म के प्राकृतिक शब्दस्पर्शादि गुणों ही का निषेध हुआ है; किन्तु उनके द्वारा प्रकृति के परि-चालक ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्वादि का निषेध नहीं हुआ है; वे सब सर्वज्ञत्वादि गुण ही "सर्वकर्म्मा" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित हुये हैं। अतएव श्रुतियों ने ब्रह्म को एकान्तनिर्गुण प्रतिपादित नहीं किया, परन्तु सर्वशक्तिमत्वादि गुणविशिष्टरूप से ही ब्रह्म का उपदेश किया है। और जगद्व्यापार की व्याख्या के कारण, श्रीमच्छङ्कराचार्यजी ने जो एक "अविद्या" नामक पदार्थ उद्भावित किया है, उसकी व्याख्या करते समय उन्होंने कहा है कि, यह अविद्या ब्रह्म भी नहीं है, ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है, अस्ति भी नहीं है, नास्ति भी नहीं है, यह एक अनिर्वचनीय पदार्थ है ("तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीया")। उनके वर्णन के अनुसार इस अविद्या के स्वरूप में जो विरुद्धता दृष्ट होती है, क्या उक्त श्रुतिवाक्यों में उससे अधिक विरोध दृष्ट होता है? श्रीमद्भगवद्गीता में भी यह दृष्टतः विरुद्ध-द्विरूपता नानास्थलों में उक्त है। यथाः—

"मया ततमिदं सर्वं, जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो, ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

९म, अध्याय ।

रूपविशिष्ट (मूर्त्त) और रूपविहीन (अमूर्त्त)—ये दोनों परस्परविरोधी हैं; अतएव ब्रह्म मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों नहीं हो सकता, इस युक्ति के ऊपर श्रीमच्छङ्कराचार्यजी ने ब्रह्म के सगुणत्व-प्रतिपादक श्रुतिसमूह को अग्राह्य किया है। किन्तु ब्रह्म-स्वरूप-निरूपण करते समय श्रुतियों की भाँति श्रीवेदव्यासजी ने स्वयं इन मूर्त्त और अमूर्त्त भावों को पुराण-समूह तथा महाभारत में स्पष्टरूप से वर्णन किया है। यथा, विष्णुपुराण, सप्तम अध्याय षष्ठांश में:—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म, द्विधा तच्च स्वभावतः ।
भूप ! मूर्त्तममूर्त्तञ्च, परञ्चापरमेव च ॥ ४७ ॥

महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व के ३४१ अध्याय में ("निर्गुणाय गुणात्मने" इत्यादि वाक्यों में) तथा अन्यान्य असंख्य स्थलों में यह दृष्टतः विरुद्ध-द्विरूपता वर्णित है। केवल श्रीमच्छङ्कराचार्य की उपरोक्त युक्ति के आधार पर, इन सब आप्तवाक्यों को परित्याग करना कभी संगत नहीं हो सकता।

दो विरुद्ध धर्म्मों के एक आधार पर स्थित रहने के दृष्टान्त भी अनेक हैं। प्रत्येक जीव के विकारित्व तथा अविकारित्व अनुभवसिद्ध हैं; जीव एक अंश में अविकारी होते हुये भी, अपर अंश में अहरहः सुख-दुःख, स्वप्न-जागरण, बाल्य-यौवन इत्यादि नानाविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है। बाह्य वस्तुसमूह की अवस्था भी ऐसी ही है। देखो, किसी गुलाब के कलिका-अवस्था से पर्युषित अवस्था को प्राप्त होने पर, उसके रूप, रस, गन्ध इत्यादि दृश्यमान सभी गुण परिवर्तित हो जाते हैं, तथापि इन्द्रियातीत एक अंश में उसके एकत्व के अचलभाव से रक्षित होने के कारण, वह उसी गुलाब ही के नाम से परिचित होता है। ऐसे और भी अनेक दृष्टान्त इस प्रश्नोत्तर में पहिले ही मैंने विस्तृतरूप से वर्णन किये हैं। और वेद के कर्म्म-काण्ड तथा ब्राह्मणांश, सभी सगुण-ब्रह्म-प्रतिपादक हैं; उपनिषदों में श्रुतियों ने प्रायः सर्वत्र ही ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, तथा जागतिक-सृष्टि-स्थिति-लय-सामर्थ्यविशिष्टत्व का वर्णन कर और सर्वत्र ही उपासना की व्यवस्था कर, ब्रह्म के सगुणत्व की घोषणा की है। उपनिषद् की व्याख्या के हेतु भगवान् वेदव्यास ने जो वेदान्त-दर्शन प्रणयन किया है, उसमें भी सर्वत्र ब्रह्म की जगत्-कारणता, जीव के ऊपर उसकी नियन्तृता, तथा उसका कर्म्म-फल-दातृत्व और उसकी उपासना-प्रणाली का वर्णन कर, उसके सगुणत्व का ही उन्होंने प्रतिपादन किया है। जीव और जगत् सभी भ्रम और

मिथ्या हैं, तथा ब्रह्म कुछ नहीं करता और शक्तिहीन है, ऐसा कहने से ये सभी प्रहसनस्थानीय हो जाते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि, अविद्या से जगत् और जीव प्रकट होते हैं; परन्तु यह अविद्या वास्तव में किसको आश्रय करके रहती है और जगत् तथा जीवरूप भ्रम किसमें उत्पादित करती है, इसका कोई सदुत्तर उन्होंने नहीं दिया—इसको अनिर्वचनीय कहकर उन्होंने वर्णन किया है, परन्तु अनिर्वचनीय कहना और मैं नहीं जानता ऐसा कहना एकही बात है। अतएव यह किसी प्रकार के जगद्व्यापार की व्याख्या के हेतु उपयोगी मत नहीं है। इस स्थल में इस निर्गुणत्व-वाद की और विस्तृत समालोचना मुझे अनावश्यक प्रतीत होती है। शाङ्करिक-मत की विस्तृत समालोचना, श्रीभाष्य में है; यदि इच्छा हो तो उसे पढ़ सकते हो।

विचार करने से प्रतीत होता है कि, शाङ्करिक मोक्ष भी एक प्रकार का आत्मविनाश है। ब्रह्म तो वर्तमान ही है, मैं ब्रह्म को प्राप्त कर आनन्द-लाभ की अभिलाषा करता हूँ। किन्तु शङ्कर कहते हैं कि, मैं कुछ भी नहीं हूँ, अविद्यामात्र हूँ, ज्ञानोदय होने पर यह जीवत्व विनष्ट हो जायगा; ब्रह्म तो वर्तमान है, वही रहेगा। दुःख से रहे अथवा सुख से रहे, चिरकाल रहने की इच्छा सब जीवों के स्वभावगत है। शाङ्करिक मत को भलीभाँति समझने से कोई भी मोक्ष के निमित्त अग्रसर नहीं होगा। जो हो, श्रुति में अनेक स्थलों में वर्णित है

कि, जीव ब्रह्म का अंश है, मिथ्या नहीं है; वेदव्यासजी ने उन समस्त श्रुतियों के सारांश को उद्धृत कर ब्रह्म-सूत्र के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के ४२ सूत्र में कहा है:—

"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि, दाशकितवादित्वमधीयत एके" अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है; कारण, श्रुति ने जीव को ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न दोनों वर्णन किया है, यहाँ तक कि, किसी श्रुति ने "धूर्त, कैवर्त और दास" को भी ब्रह्म कह कर वर्णन किया है।

शङ्कर-भाष्य में भी इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि, "अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः" (अर्थात् श्रुति-विचार-द्वारा ब्रह्म के साथ जीव के भेदाभेद दोनों सम्बन्धों के स्थापित होने से, जीव ब्रह्म का अंश कहकर प्रतीत होता है)। अतएव श्रुति-वाक्यों का अभिप्राय तथा वेद-व्यास का निज-सिद्धान्त जब यह है कि, जीव ब्रह्म का अंश है, तो इस सिद्धान्त को परित्याग कर शाङ्करिक-मायावाद ग्रहण करने के योग्य नहीं है। वे अपने मत को श्रुति ही के आधार पर स्थापित करना चाहते हैं; किन्तु स्वयं वेद-व्यासजी ने श्रुति के तात्पर्य्य को अन्य प्रकार से सिद्ध किया है; अतएव, तद्विरोधी शाङ्करिक मत ग्रहणीय नहीं हो सकता।

मैंने यहाँ तक शाङ्करिक मत की समालोचना की। पूर्व में मैंने भी वेदान्त-दर्शन की एक व्याख्या प्रकाशित की है,

उसमें शाङ्करिक मत का विचार अनेक स्थलों में है, उसको भी पढ़ सकते हो।

अब श्रीमद्रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत के सम्बन्ध में मैं दो एक बात कहूँगा।

श्रीनिम्बार्क स्वामीजी का भेदाभेदसिद्धान्त श्रीरामानुज स्वामीजी के सिद्धान्त की अपेक्षा प्राचीन है। श्रीरामानुज स्वामी को बोध हुआ कि, इस सिद्धान्त-द्वारा जीव और जगत् को ब्रह्मस्वरूप के अन्तर्भूत अंश कहने से, जीव के पापजनित दुःखादि दोष ब्रह्मस्वरूप में ही उपस्थित होते हैं। परन्तु ब्रह्म निर्दोष तथा सर्वकल्याण-गुणाकर है। अतएव इस दोष का परिहार करने के निमित्त उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि, जीव और जगत् ब्रह्म के स्वरूपान्तर्गत नहीं हैं, वह स्वरूप सदैव सर्वज्ञत्वादि-सद्‌गुण-सम्पन्न तथा निर्दोष है; जगत् और जीव उससे पृथक् हैं, जीव और जगत् का धर्म्म ब्रह्म में कभी संक्रामित नहीं होता है। परन्तु ऐसा कहने पर श्रुति-द्वारा उपदिष्ट अद्वैतवाद का अपलाप होता है। अतएव उन्होंने यह सिद्धान्त किया कि, जीव और जगत् ब्रह्म के शरीर-स्वरूप (बहिरङ्ग) हैं, इनके साथ उसका शरीर-शरीरि-भाव है। इस मत को स्थापित करने के हेतु बहुत कष्ट-कल्पना द्वारा नानाविध लक्षणा कर, श्रुतिसमूह के अर्थों को इस मत के अनुकूल कर व्याख्या

करने की चेष्टा श्रीरामानुज स्वामी ने की है। परन्तु ब्रह्म को जिस दोष-संस्पर्श-जनित अपवाद से विमुक्त करने के निमित्त उन्होंने इस मत का उद्भावन किया, उसका तात्पर्य्य क्या है, और इसके द्वारा उस दोष को दूरीभूत करने में वे कितने कृतकार्य हुये हैं, इसे निविष्टचित्त हो विचार कर देखना आवश्यक है।

श्री-भाष्य-कार कहते हैं कि, "जैसे शुक्ल, रक्त, तथा कृष्ण वर्णों से पृथक् पृथक् भाव से रञ्जित, किन्तु एकत्र मिलित तन्तु-समूह द्वारा निर्मित वस्त्र के भिन्न भिन्न अंशों में शुक्लादि वर्णों का सम्बन्ध दृष्ट होता है" (अर्थात् वस्त्र के ठीक एक ही स्थल पर त्रिविध वर्णों की तन्तुओं का सन्निवेश होना असम्भव है; प्रत्येक वर्ण की तन्तु, पृथक् स्थान में, अपर तन्तुओं से पृथक् रूप से रहती है, अतएव वे परस्पर कभी एकीभूत नहीं हो सकतीं; तथापि वह वस्त्र त्रिविध वर्णों की तन्तुओं के मिलन ही से गठित है); वैसे ही चित् (जीव), अचित् (अचेतन जगत्) और ईश्वर—इन तीनों की समष्टि के जागतिक उपादान होने पर भी, भोक्तृत्व (जीवत्व) भोग्यत्व (अचेतनत्व) और नियन्तृत्व (ईश्वरत्व)—इन तीनों का परस्पर में संक्रमण कभी नहीं होता है। ये सदैव पृथक् ही रहते हैं। इस स्थल में स्मरण रखना योग्य है कि, भाष्यकार ने "ईश्वर" और "ब्रह्म" दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में ग्रहण कर अपने मत की व्याख्या की है। अब उनके इस मत के तात्पर्य और फल को विचार करने में प्रवृत्त हो रहा हूँ।

पहिले यह जिज्ञास्य है कि, शुक्ल, रक्त, और कृष्ण वर्णों से पृथक् पृथक् रञ्जित तीनों तन्तुएँ जिस भाँति सदैव पृथक् हैं और रहती हैं, वैसे ही यदि ब्रह्म, जीव, और जगत् सदैव पृथक् हों और रहते हों, तो श्रुति ने जो ब्रह्म के एकमात्र अद्वैत होने की बारम्बार घोषणा की है, उसकी यथार्थता की रक्षा किस प्रकार से हो सकती है ? रक्त और कृष्ण दोनों तन्तुयें जिस प्रकार शुक्ल तन्तु से सदैव विभिन्न रूप से वर्तमान रहती हैं, वैसे ही जीव और जगत् सदैव ब्रह्म से विभिन्न हैं, अतएव ब्रह्म के अद्वैतत्व-विषयक श्रुतिसमूह इस मत के सम्पूर्ण विरोधी हैं। भूमा-विद्या इत्यादि के व्याख्यास्थलों में, "यत्र नान्यत्पश्यति" (जिसमें अन्य कुछ भी नहीं दीखता है) प्रभृति वाक्यों के द्वारा श्रुति ने स्पष्टरूप से उपदेश किया है कि, ब्रह्म से भिन्न कुछ भी पदार्थ नहीं है, यही सत्य है, और इसी ज्ञान में सम्यक् प्रतिष्ठित होने ही से मोक्ष-लाभ होता है। अतएव रक्त वर्ण और कृष्ण वर्ण तन्तुयें, एक ही वस्त्र में वर्तमान रहने पर भी, जैसे शुक्ल वर्ण तन्तु से सदैव पृथक् रहती हैं, वैसे ही यदि जीव और जगत् ब्रह्म से सदैव पृथक् रूप से वर्तमान रहें, तो सम्पूर्ण रूप से भेद-वाद ही की स्थापना होती है; ब्रह्म के इनके नित्य नियन्ता होने पर भी, केवल ब्रह्म की इस नियन्तृत्व-शक्ति के नित्य अधीन होने के कारण, जीव और जगत् को ब्रह्म के साथ एक करके कभी नहीं कहा जा सकता। परन्तु एक न होने से भेद रही गया,

अतएव यह मत पूर्वलिखित अद्वैत-श्रुतियों तथा ब्रह्म के पूर्णत्व और सर्वव्यापित्व विषयक श्रुतियों का सम्पूर्ण विरोधी हो पड़ता है।

इस आपत्ति से स्वीय मत की रक्षा करने के निमित्त भाष्यकार कहते हैं कि, जीव और जगत् के साथ ब्रह्म का शरीर-शरीरि-सम्बन्ध है, जगत् और जीव की समष्टि ("चिदचित्-संघात") ब्रह्म का शरीर है, और ब्रह्म स्वयं शरीरी (आत्मा) है; इन दोनों में "शरीरात्मभाव" विद्यमान है। अतएव भाष्यकार कहते हैं कि, "चिदचित् संघात" के ब्रह्म ही के शरीर होने के कारण, अद्वैतत्व-विषयक-श्रुतियों के साथ उनके मत का कोई विरोध नहीं है। किन्तु वास्तव में मूल उपादान कारण वही चेतनाचेतन संघातरूप शरीर है; ब्रह्म इसका नियन्ता तथा निमित्त-कारण-मात्र है।

श्रीमद्रामानुज स्वामी के इस वाक्य का आशय यह प्रतीत होता है कि, शरीर के पृथक् होने पर भी, उसमें अधिष्ठित जीवात्मा के साथ एकत्व-बुद्धि द्वारा जैसे इसका समस्त व्यवहार सिद्ध होता है, (साधारणतः हम लोग शरीर ही को देख कर ऐसा कहते हैं कि, शरीरी जीव ही को देखा है) और वह शरीराधिष्ठित जीव भी देहात्म-बुद्धि ही के द्वारा समस्त व्यवहार साधित करता रहता है, वैसे ही श्रुति ने भी अद्वैत-मत का प्रचार करते हुए कहा है कि, ब्रह्म ही जगत् का कारण है, उसी से जगत् उत्पन्न है, उसी में स्थित है इत्यादि;

वास्तव में जगत् का मूल उपादान ब्रह्म नहीं है, वह उसका निमित्त-कारण-मात्र है।

अब यह शरीर-शरीरि-सम्बन्ध क्या है, इसको भली भाँति विचार कर देखना आवश्यक है। दृश्यस्थानीय पञ्चभूतात्मक देह को शरीर कहते हैं, इसके द्वारा जिस जीव का भोग साधित होता है, वही उस शरीर के सम्बन्ध में शरीरी है। इन दोनों में क्या सम्बन्ध है, इसका विचार साधारण रूप से करने पर देखा जाता है कि, शरीर से शरीरी जीव पृथक् है, शरीर के विनाश होने से जीव का विनाश नहीं होता है, शरीर तो जीव के भोग-साधन का यन्त्र-मात्र है। किन्तु विभिन्न होने पर भी, अविद्या के कारण, अपने से पृथक् इस शरीर पर जीव की आत्मबुद्धि उपजात होती है; अविद्या के विगत होने पर, इस जड़ देह में आत्म-बुद्धि पुनः नहीं रहती; अविद्या के वर्तमान रहने ही से शरीर के कर्म्मों को अपने कर्म्म कहकर जीव स्वयं तथा दूसरे जीव भी अनुभव करते हैं। अब जिज्ञास्य यह है कि, ब्रह्म का जगत् के साथ क्या ऐसा ही सम्बन्ध है? ब्रह्म में भी क्या इसी प्रकार की कोई अविद्या वर्तमान है? यदि ऐसा है, तो उसके द्वारा ब्रह्म का स्वरूप ही कलङ्कित हुआ; कलङ्क-संसर्ग से भाष्यकारजो ब्रह्म की रक्षा नहीं कर सके। यदि ऐसी अविद्या ब्रह्म में न हो, तो जीव और अचेतन जगत् में ब्रह्म की आत्मबुद्धि भी नहीं रह सकती। और

यदि उसकी आत्म-बुद्धि ही न रहे, तो इन (जीव और जगत्) को ब्रह्म से अभिन्न कह कर "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि असंख्य वाक्यों के द्वारा श्रुतियाँ कैसे उपदेश कर सकती हैं। यदि कहा जाय कि, ब्रह्म में देहात्म-बुद्धि नहीं है, किन्तु उपदेश के पात्र जीव में देहात्म-बुद्धि के वर्तमान रहने के कारण, उस जीव को समझाने के हेतु, श्रुतियों ने ऐसा उपदेश किया है; तो जिज्ञास्य यह है कि, जब अविद्या ही के कारण जीव मिथ्या कल्पना कर शरीर में आत्म-बुद्धि स्थापित करता है, तो क्या उस अविद्या ही को और भी दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित करने के निमित्त, मोक्षविषयक उपदेश करते समय भी श्रुतियों ने दृढ़रूप से पुनः पुनः यह मिथ्या उपदेश किया है कि, जीव और जगत् दोनों ब्रह्म हैं, ब्रह्म से ये सम्पूर्ण अभिन्न हैं? और ऐसा कहने पर क्या ब्रह्म भी सांसारिक जीव का रूपान्तर-मात्र नहीं हो गया? कभी ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि, अविद्या से मुक्त होने का उपाय उपदिष्ट करते समय श्रुतियाँ ऐसे मिथ्या उपदेशों के द्वारा जीव को अधिकतर तमसाच्छन्न करेंगी। विशेषतः श्रीभाष्यकार के मत के अनुसार जब अविद्या का कोई सम्बन्ध ब्रह्म से कदापि नहीं है, और ब्रह्म का स्वरूप जब सदैव सर्व-प्रकार जीवधर्म्म तथा जगद्धर्म्म से रहित है, और वह सदैव निष्कलङ्क है; तो उस मत के अनुसार ब्रह्म से विभिन्न जीव और जगत् में ब्रह्म की आत्म-बुद्धि रहने का कोई भी कारण

कल्पित नहीं किया जा सकता। और जब यह आत्म-बुद्धि वास्तव में मिथ्या है, तो ऐसी कल्पना कभी मन में नहीं की जा सकती कि, दूसरे किसी कारणवश उसी मिथ्या को सत्य कह कर घोषित करना मोक्षोपदेश-कारिणी श्रुतियों का अभिप्राय है। इस समस्या को अतिक्रम करने के निमित्त भाष्यकारजी कहते हैं कि, परमपुरुष ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का तद्रूप भेद-भाव नहीं है; जीव और जगत् (दोनों) ब्रह्म ही के एक एक विशेष "**प्रकार**" मात्र हैं; "परमपुरुषशरीरत्वेन चिदचितोस्तत् प्रकारतयैव पदार्थत्वात्, तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्व-शब्दवाच्यः"। अर्थात् जीव और जगत् के परमपुरुष के शरीर होने के कारण, वे उसी (परमपुरुष) के एक एक विशेष "प्रकार" मात्र हैं; उक्त प्रकार-विशिष्ट ब्रह्म सदैव "सर्व" शब्दवाच्य है; अतएव तद्विषयक श्रुति-वाक्यों के साथ भाष्यकार के इस मत का कोई विरोध नहीं होता।

इस स्थल में जिज्ञास्य यह है कि, भाष्यकार ने जो जीव और जगत् को ब्रह्म का एक विशेष "प्रकार" कह कर वर्णन किया है, इस "प्रकार" शब्द का यथार्थ आशय क्या है? बम्बई, लँगड़ा, गोपाल-भोग, देशी इत्यादि आमों के प्रकार-भेद हैं, ऐसा हम लोग कहते हैं; किसी को बम्बई आम, किसी को लँगड़ा आम, किसी को देशी आम कहते हैं; प्रत्येक एक विशेष प्रकार का आम है, किसी किसी गुण में पारस्परिक

विभिन्नता होने पर भी, आम्रत्व विषय में सभी समान हैं,—आम्रत्व धर्म प्रत्येक में संक्रामित है—यही आम के "प्रकार-भेद" शब्द से बोधगम्य होता है। किन्तु देशीय आम्र को कभी बम्बई आम का प्रकार-भेद नहीं कह सकते, लँगड़ा आम को भी उसका प्रकार-भेद नहीं कह सकते; कारण, ये समान श्रेणी के पृथक् पदार्थ हैं; बम्बई आम कहने से जिन सब विशेष धर्म्मों की अवस्थिति उसमें प्रतीत होती है, देशीय आम कहने से इसमें उन सब विशेष धर्म्मों का अभाव और अन्यविध विशेष धर्म्मों की अवस्थिति प्रतीत होती है; अतएव देशीय आम कभी बम्बई आम का प्रकारान्तर-मात्र नहीं कहा जाता है। अतएव भाष्यकार के प्रदर्शित दृष्टान्त में शुक्ल, रक्त और कृष्णवर्णों की तीन पृथक् पृथक् तन्तुओं की भाँति, जब उनके मत में परमात्मा ब्रह्म, जीव और जगत् में कोई भी साधारण धर्म्म नहीं है—किसी का धर्म्म दूसरे में संक्रामित नहीं होता, और ये सदैव पृथक् पृथक् रूप में अवस्थिति करते हैं, तो ये तीनों सम-श्रेणी के पदार्थ हो जाते हैं; सुतरां ब्रह्म के प्रकार-भेद कह कर किसी प्रकार से जगत् और जीव की व्याख्या नहीं की जा सकती। किसी पदार्थ को दूसरे पदार्थ के प्रकार-भेद कहने से यह मालूम होता है कि, जिस मूल पदार्थ का प्रकार-भेद कहा जाता है, वही मूल साधारण पदार्थ किसी विशेष गुण के योग से केवल विशेषनाम-प्राप्त हुआ है। इसी भाँति स्वरूप में एक होते हुये भी, केवल गुण अथवा धर्म्म

में कुछ कुछ भेद होने के अर्थ में यदि जीव और जगत् ब्रह्म के "प्रकार-भेद" कहे जायें, तो लँगड़ा, बम्बई इत्यादि सर्वप्रकार के आमों को जैसे आम कहते हैं, वैसे ही जीव और जगत् को ब्रह्म ही कह कर वर्णन करना पड़ेगा, जीव और जगत् को फिर ब्रह्म से पृथक् नहीं कह सकते, ब्रह्म को इनका मूल-स्वरूप कहना पड़ेगा। परन्तु जीव और जगत् को उपरोक्त अर्थ में ब्रह्म के प्रकार-भेद कहने पर, जीव और जगत् ब्रह्म ही के स्वरूप-स्थित पदार्थ हो जाते हैं। अतएव जिस दोषापवाद को त्याग करने के निमित्त श्रीमद्रामानुज स्वामी ने कष्ट-कल्पना करके अपने मत का उद्भावन किया है, वह दोषापवाद इसमें सम्पूर्णरूप से रही जाता है।

इसके उत्तर में कहा जाता है कि, यह "संघात" (चेतनाचेतन-समष्टि) ब्रह्म के स्वरूपगत नहीं है, यह उसका गुण-विशेष मात्र है; परन्तु उसका स्वरूपगत गुण नहीं है, बाह्य गुणमात्र है। इस विषय को और भी परिष्कृत करने के लिये कहा जाता है कि, ब्रह्म के जो सर्वशक्तिमत्व, सर्वज्ञत्वादि स्वाभाविक गुण हैं, उन्हीं गुणों के साथ ये सब बाह्य-गुण युक्त-भाव से वर्तमान हैं, ये सब उसके **स्वरूप** के साथ युक्त नहीं हैं; अतएव ब्रह्म का स्वरूप निष्कलङ्क ही रह जाता है। भगवान् के स्वरूप में किसी प्रकार का कलङ्क दृष्ट हो, ऐसी आशङ्का से भक्त के प्राण कम्पित हो उठते हैं; अतएव भाष्यकारजी ने जो यथाशक्ति निजबुद्धि कौशल को

परिचालित कर, चाहे जैसे हो, इस दोष-स्पर्श से भगवत्स्वरूप की रक्षा करने की चेष्टा की है, उससे उनकी भक्ति ही की गम्भीरता का परिचय मिलता है। परन्तु इसके कारण उनके इस मत को युक्ति-मूलक तथा शास्त्र-मूलक किसी प्रकार से नहीं कह सकते। भाष्यकार द्वारा स्वीकृत है कि, ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि कल्याणगुणसमूह उसके स्वरूप में ही स्थित हैं। स्वरूप को अतिक्रम कर किसी अंश में वर्तमान नहीं है; ये सब भगवद्गुण दूसरे किस के आश्रय में अथवा कहाँ रह सकते हैं? अतएव इन सब गुणों के साथ जो पदार्थ संयुक्त रहता है, वह (पदार्थ) ब्रह्म के स्वरूप के साथ ही संयुक्त होकर वर्तमान रहता है, उसके स्वरूप को किसी अंश में भी अतिक्रम कर वर्तमान नहीं है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। एक बाक्स का आकार चतुष्कोण है, इस चतुष्कोणत्व को बाक्स का एक स्वरूपस्थित गुण कह कर मैंने ग्रहण किया। अब उस चतुष्कोण आकार के साथ लोहित वर्ण संयुक्त है, ऐसा कहने पर क्या वह लोहित-वर्ण बाक्स ही के स्वरूप में स्थित नहीं हुआ? बाक्स को क्या लोहित-वर्ण-विशिष्ट नहीं कहेंगे? अतएव चिदचित् समष्टि-रूप गुण भी ब्रह्म के स्वरूपगत सर्वशक्तिमत्वादि गुणों के साथ युक्त रहने से वह ब्रह्म ही के स्वरूप को रञ्जित करता है, ऐसा कहना पड़ेगा; ब्रह्म के स्वरूप को रञ्जित न कर, उसके स्वरूपगत गुणों के साथ युक्त कहने से कोई भी अर्थ नहीं निकलता।

यदि कहो कि, यह "चिदचित्" समष्टि ब्रह्म के स्वाभाविक सर्वज्ञत्वादि गुणों के साथ भी संश्लिष्ट नहीं है, तो यह ब्रह्म से सम्पूर्ण पृथक् पदार्थ हुआ, इसको ब्रह्म का गुण कहना अर्थ-शून्य जल्पना-मात्र है; यह एक प्रकार का सांख्य अथवा पाशुपत मत है। सांख्यमत में जागतिक-उपादान-कारण प्रकृति "गर्भदासवत्" स्वभावतः नित्य पुरुष के अधीन है, तथा स्वयं भी नित्या है। पाशुपत-मत भी इस विषय में प्रायः ऐसा ही है। रामानुज स्वामी के मत तथा इन सब मतों में केवल भाषा में ही पार्थक्य है। वास्तव में इस विषय में ये दोनों श्रेणी के मत एक ही प्रकार के हैं। श्रुतिप्रमाण और युक्ति से श्रीवेदव्यासजी ने स्वयं इन सब मतों का सम्पूर्ण रूप से खण्डन किया है; इस स्थान पर उन सब श्रुतियों और युक्तियों के प्रमाणों का वर्णन करना निष्प्रयोजन है (आवश्यकता पड़ने पर ब्रह्मसूत्र के प्रथम और द्वितीय अध्यायों को पढ़कर देखना)। अतएव जिन दोषों के निवारण के निमित्त रामानुज स्वामी ने इतनी कष्ट-कल्पनाओं का सृजन किया है, वे दोष इस सिद्धान्त के द्वारा निवारित नहीं होते, उनके मत में भी ये दोष (यदि ये दोष हों तो) रही जाते हैं।

इस श्रेणी की आपत्ति से रक्षा करने के हेतु ऐसा कहा जाता है कि, शुक्ल, रक्त और कृष्ण वर्ण तन्तुत्रय निर्मित वस्त्र के दृष्टान्त का आशय यह है कि, ब्रह्म साधारण अरञ्जित कपास-स्थानीय है; मूल कपास के शुक्ल वर्ण होने के कारण,

तन्निर्मित तन्तु शुक्ल वर्ण ही होती है; अतएव ईश्वर-स्थानीय शुक्ल वर्ण तन्तु साक्षात् ब्रह्मरूप है। परन्तु जीव-स्थानीय और जगत्-स्थानीय रक्तवर्ण और कृष्णवर्ण तन्तुद्वय ऐसे पक्के रङ्गों से रञ्जित हैं कि, इन दोनों के तन्तुरूप से ब्रह्म के प्रकार-भेद होने पर भी, इनका स्वीय रङ्ग कभी परित्यक्त नहीं होता; शुक्ल वर्ण तन्तु से ये सर्वावस्था में पृथक् रह जाती हैं,—कभी स्वीय रङ्ग-वर्जित होकर ऐकान्तिक शुक्लता प्राप्त नहीं करती हैं। जैसे घट और शराव (सुराही) के वास्तव में मृत्तिका के प्रकार-भेद होने पर भी, घट और शराव रूप में सदैव मृत्तिका से विभिन्न दृष्टिगोचर होते हैं, यह भी वैसे ही है।

यह व्याख्या आपाततः मनोहर प्रतीत हो सकती है, किन्तु वास्तव में यह मनोहारित्व अमूलक है; कारण, रक्तवर्ण और कृष्णवर्ण सूत्रद्वय का आधार यदि कपास-निर्मित शुक्ल तन्तु होती, और पश्चात् पक्के रक्तवर्ण और कृष्णवर्ण उनमें संचारित होते, (अर्थात् जीवस्थानीय तथा जगत्स्थानीय रञ्जित सूत्रद्वय यदि ईश्वर-स्थानीय शुक्ल कपास-सूत्र की भाँति मूलतः शुक्ल होते और पश्चात् रञ्जित होते) तो उस दृष्टान्त को संगत कह कर ग्रहण-योग्य मान भी सकते। किन्तु विशिष्टाद्वैत मतानुसार ये कदापि ईश्वरवत् न तो शुक्ल थे और न कदापि होंगे; और शुक्ल वर्ण तन्तु में भी कभी रक्त वर्ण और कृष्णवर्ण के सञ्चारित होने की योग्यता नहीं है; कारण, विशिष्टाद्वैत मतानुसार इनके पारस्परिक धर्मसमूह

कदापि परस्पर संक्रामित नहीं होते। अतएव इस व्याख्या के द्वारा विशिष्टाद्वैत मत का समर्थन नहीं होता है। और यह भी स्मरणीय है कि, उत्पत्तिशील पदार्थमात्र ही विनाश-शील हैं। अतएव शुक्लवर्ण तन्तु में पश्चात् रक्तवर्ण और कृष्णवर्ण के सञ्चारित होने पर, उन रक्त और कृष्णवर्णों का संयोग कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकता, उसका विनाश होना अवश्यंभावी है, और उसके विनष्ट होने पर तन्तुद्रय पुनः शुक्लता प्राप्त होंगी। किन्तु इस प्रकार की शुक्लता-प्राप्ति भी विशिष्टाद्वैत मत के विरुद्ध है; उस मत के अनुसार अचेतन जगत् कभी ब्रह्मरूपता-प्राप्त नहीं होता, जीव को मोक्षावस्था में भी ब्रह्मरूपता प्राप्त नहीं होती। सुतरां यह व्याख्या किसी प्रकार से गृहीतव्य नहीं है।

यदि दृष्टान्त को स्थिर रखने के निमित्त यह कहा जाय कि, शुक्लवर्ण तन्तु रञ्जित न होकर मूल कपास ही रञ्जित हुआ है, तो भी उक्त सभी आपत्तियाँ प्रयुज्य होती हैं। इसमें कोई विशेषत्व नहीं है। यदि यह कहा जाय कि, कपास पहिले शुक्ल रहकर पश्चात् रञ्जित नहीं हुआ है, किन्तु स्वभावतः सदैव कपास का कोई अंश शुक्लवर्ण, कोई अंश रक्तवर्ण, तथा कोई अंश कृष्णवर्ण है; तो कपास-स्थानीय ब्रह्म ही स्वरूपतः आंशिक रञ्जित अर्थात् अविद्यादि द्वारा दूषित हो पड़ता है, यह विशिष्टाद्वैत-वाद के विरुद्ध है। कारण, इससे ब्रह्म के स्वरूप ही में दोष आरोपित होता है।

और एक विशेष खण्ड के सर्वज्ञत्वादिगुण-सम्पन्न और दूसरे विभिन्न खण्ड के पाप-दूषित होने पर, ब्रह्म का श्रुति-सिद्ध अखण्डत्व पुनः नहीं रह गया।

मृत्तिका के दृष्टान्त में भी घट, शरावादि-अंश-वर्जित होकर जो मृत्तिका अवशिष्ट रहती है, वह स्वरूप में अपूर्ण है। एवं इस प्रकार के खण्ड के वर्तमान रहने से मृत्तिका जैसे अखण्ड कहकर गण्य नहीं हो सकती है, वैसे ही ब्रह्म भी पुनः अखण्ड कहकर गण्य नहीं हो सकता। अतएव यह व्याख्या किसी प्रकार से आदरणीय नहीं है।

वास्तव में भेदाभेद सिद्धान्त ही सर्वशास्त्र-संगत है, और युक्ति भी सर्वतोभाव से इसी के अनुकूल है। पूर्वपूर्वप्रश्नोत्तरों में मैंने व्याख्या की है कि, सर्वशास्त्रानुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द-रूप है; उसमें अचेतन जगत् का उपादान ब्रह्म का आनन्दांश है; और उसकी चिच्छक्ति के अनन्त-प्रकार-विशिष्ट होने के कारण, उसकी व्यष्टि-दर्शन-युक्त अवस्था ही जीवत्व है और उसका सम्यक्-दर्शन-शक्ति-युक्त भाव ही ईश्वरत्व है। इसी के स्मरण रखने पर सर्व-शास्त्रों के उपदेशों में सामञ्जस्य दृष्ट होगा। यह सदैव स्मरण रखना कि, यह भेद-त्रय किसी प्रकार से ब्रह्म के अद्वैतत्व के संग विरोधी नहीं है; यह त्रिविधत्व एक ही पूर्ण सत्स्वरूप के आश्रित है। वही आनन्दमय सत् अनन्त-शक्ति-शाली है; केवल उसकी पूर्वोक्त विशेष विशेष शक्तियों के प्रति लक्ष्य कर विशेष विशेष नामों

के द्वारा उसका वर्णन किया जाता है। अतएव इस सिद्धान्त द्वारा ब्रह्म के अद्वैतत्व, अखण्डत्व और ईश्वरत्व, जीव के जीवत्व, बन्ध, और मोक्ष, उपासना की आवश्यकता, जगत् का दृश्य-स्थानीयत्व अतएव अचेतनत्व इत्यादि सभी की व्याख्या होती है, और श्रुतियों के साथ भी अविरोधत्व स्थापित होता है।

श्रुति ने स्पष्टरूप से कहा है, "ब्रह्म-दाशा ब्रह्म-दासा ब्रह्म-कितवा" इत्यादि। गीता में भी "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इत्यादि वाक्यों के द्वारा भगवान् ने स्वयं जीव को ब्रह्म का अंश ही कह कर वर्णन किया है। वेदव्यासजी ने भी "अंशनानाव्यपदेशादन्यथा च" (द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद, ४२ सूत्र) इत्यादि पूर्वोद्धृत सूत्र द्वारा जीव को ब्रह्म का अंश कहकर श्रुति का निश्चित सिद्धान्त होना ज्ञापित किया है। अनेक श्रुतियों तथा युक्तियों के आधार पर, वेद-व्यासजी ने ब्रह्म-सूत्र के प्रथम दो अध्यायों में स्पष्टरूप से यह ज्ञापित किया है कि, ब्रह्म ही जगत् का उपादान है। गीता में भी भगवान् ने कहा है, "एकांशेन स्थितो जगत्" (१० म, अ०, ४२ श्लोक)।

वास्तव में ब्रह्म की ईक्षणशक्ति के स्वरूपगत अनन्त भेदों के होने के कारण ही, एक ही ब्रह्म अनेक रूपों से दृष्ट होता है। यह छान्दोग्य प्रभृति श्रुतियों ने स्पष्ट अक्षरों में कहा है; यथा—"तदैक्षत बहुस्याम्", अर्थात् ईक्षण-द्वारा ही ब्रह्म बहु होता है। यह समस्त श्रुतियाँ कहती हैं कि, स्वयं एक होने

पर भी, ईक्षण-शक्ति के भेद के कारण ही, ब्रह्म अनेक रूपों से प्रकाशित हो सकता है। किन्तु अनेक रूपों से प्रतिभात होते हुये भी ब्रह्म-स्वरूप सदैव निष्कलङ्क रहता है। इस ईक्षण के बहुत्व-निबन्धन ब्रह्म-स्वरूप में कलङ्क का स्पर्श तो दूर रहा, इससे उसके स्वरूप की पूर्णता और अनन्तता ही प्रकाशित होती है। जब उसका सर्वज्ञत्व नित्य ही वर्तमान है, तब अज्ञान-जनित कलङ्क उसको और किस प्रकार से स्पर्श कर सकता है? अल्पज्ञ जीव के उसके स्वरूप-भुक्त होने पर भी, ब्रह्म की सदा सर्वज्ञ ईश्वर-रूप से अवस्थिति भी नित्य वर्तमान है। इसलिए यह स्वरूप वास्तव में कभी कलुषित नहीं होता। एक दृष्टान्त द्वारा इसको और भी परिष्कृत किये देते हैं। भारतवर्ष में यह प्रसिद्ध है कि, योगीश्वरगण का तृतीय ज्ञान-नेत्र प्रकाशित होता है; देश और काल-द्वारा विच्छिन्न दूर-स्थित पदार्थ का वे अपने ज्ञान-नेत्र द्वारा दर्शन कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकार के दर्शन करने की शक्ति रहने पर भी, साधारण मनुष्यों की भाँति चर्म-चक्षु भी उनमें वर्तमान रहते हैं। पारस-मणि के अधिकारी करोड़-पति के पास जैसे अल्प मूल्यवाले पैसे भी रहते हैं और पैसे से वह पैसे के योग्य कार्य भी करता है, वैसे ही योगीश्वरों के भी चर्म-चक्षु हैं, और इन्हीं चर्म-चक्षुओं के द्वारा साधारण मनुष्यों की भाँति वे भी साधारण दर्शन के कार्य किया करते हैं। परन्तु इन चर्म-चक्षुओं में रोग भी उत्पन्न हो सकता है, इनकी ज्योति

की हानि भी हो सकती है और वे एक-दम अन्धे भी हो सकते हैं। किन्तु तन्निमित्त ये समस्त योगीश्वर कभी दर्शन-शक्ति-हीन नहीं कहे जा सकते; कारण, इन चर्म-चक्षुओं के दूषित होने पर भी, वे अपने ज्ञान-नेत्र-द्वारा ही समस्त दर्शन-कार्य कर सकते हैं; चर्म-चक्षुओं के दूषित होने पर भी, उनकी दृष्टि-शक्ति में कोई दोष उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार ब्रह्म की जीव-शक्ति के सीमा-बद्ध और दूषित होने पर भी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्यानन्दमय, ब्रह्म उसके द्वारा किसी प्रकार से कलुषित नहीं होता।

भाष्यकार स्वामी रामानुजजी ने केवल जगन्नियन्तृत्व-शक्ति-युक्त ईश्वरत्व-मात्र में ब्रह्म-स्वरूप को पर्य्यवसित किया है, यह उनका भ्रम है; कारण, श्रुतियाँ स्पष्टरूप से कहती हैं:—

उद्गीतमेतत् परमन्तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च।

× × × ×

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशावनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपोह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९॥

(श्वताश्वतरोपनिषद्)

अर्थात् इसी ब्रह्म को वेद ने सर्वश्रेष्ठ (सर्वसार) कह कर उपदेश किया है, इसी में त्रिविधत्व (ईश्वरत्व, जीवत्व तथा दृश्य-जगद्रूपत्व) प्रतिष्ठित है; एवं वह अक्षर-स्वभाव भी है, (सर्वदा एक अपरिवर्तनीय है।) ईश्वर-रूप में ब्रह्म "ज्ञ"

अर्थात् सर्वज्ञ-स्वभाव, और अनीश्वर अर्थात् जीव-रूप में वह "अज्ञ" अर्थात् अपूर्णाज्ञ-स्वभाव है; उसका यह उभयत्व ही अनादि, नित्य है। तद्भिन्न उसका एक और रूप है जो जीव-रूपी ब्रह्म का भोग-साधक अर्थात् बहिर्जगत् है, यह भी जन्म-रहित, नित्य है। एवञ्च ब्रह्म आत्मा-स्वरूप और अनन्त (सर्वव्यापी) एवं विश्वरूप, अर्थात् त्रिकाल में प्रकाशित, समस्त विश्व उसके स्वरूपगत है, अतएव वह अकर्त्ता है; कारण पूर्वोक्त त्रितय ही उसके इस आत्मरूप के साथ एकता-प्राप्त होकर वर्तमान है ["यत एवानन्तो विश्वरूप आत्मा, अतएव अकर्त्ता, कर्त्तृत्वादि संसार-धर्म्म-रहित इत्यर्थः" इति शाङ्करभाष्ये। अर्थात् जब त्रिकाल में प्रकाशित समस्त विश्व ही अक्षररूपी ब्रह्म के स्वरूपगत है तब उसका कर्त्तृत्व और क्या रह सकता है? कारण, जब सभी स्वरूप में वर्तमान ही है, तब वह नूतन और क्या करेगा?] ॥९॥ ब्रह्म के इस त्रिविधत्व को श्रुति ने नाना स्थानों में प्रकाशित किया है। सुतरां श्रुति-वाक्यों की प्रामाणिकता सर्वांश में स्वीकार करते हुए भी एक मात्र ईश्वरत्व में ब्रह्म-सत्ता को पर्य्यवसित कर श्रीभाष्यकार ने जिस मत के स्थापन करने की चेष्टा की है, उसे नितान्त अमूलक कह कर ही मानना पड़ेगा। उनका मत स्वीकार करने से ब्रह्मस्वरूप अपूर्ण और अन्तविशिष्ट हो जाता है—यह सर्वविध शास्त्रविरुद्ध है।

यहाँ तक विशिष्टाद्वैत मत की समालोचना हुई है। एवद्-

द्वारा यह मत तथा हमारा भेदाभेद मत पूर्णरूप से बोधगम्य हो जायँगे।

और एक विषय स्मरण रखने के योग्य है कि, श्रीमद्रामानुज स्वामी का आदर्श पुराणोक्त कारणाब्धिशायी नारायण पर्य्यन्त पहुँचता है। भगवान् नारायण की शयनावस्था (जगत् की प्रकृति-लीनावस्था) ही श्रीरामानुज स्वामी का सूक्ष्मचिदचित् संघात है। इसके अधिष्ठाता भगवान् नारायण स्वीय देह को आकुञ्चित करके प्रलय-काल में कारणवारि में शयन करते हैं, फिर मानो स्वीय देह को प्रसारित कर विराट् रूप धारण करते हैं। वास्तव में यह ब्रह्म का तृतीय मूर्त्त-रूप है जो विष्णुपुराण में वर्णित हुआ है और हमने इसकी पूर्व ही में व्याख्या की है।

और चिदानन्दवर्जित अनिर्देश्य एक सन्मात्र रूप ही श्रीमच्छङ्कराचार्य्य का आदर्श-स्थानीय ब्रह्म है। वास्तव में चिदानन्द से और उस चिदानन्द के प्रकाशभाव से रहित होकर "सत्" कभी वर्तमान नहीं रह सकता, यह श्रीमच्छङ्कराचार्य्य ने विचार नहीं किया है। भेदाभेद-वादी निम्बार्कीयगण ब्रह्म के मूर्त्तामूर्त्त उभयरूपों को स्वीकार करते हैं। इनके मत से श्रीरामानुज स्वामी का आदर्श-स्थानीय नारायणरूपी ब्रह्म, ब्रह्म का प्रकाशित मूर्त्तरूप-मात्र है; प्रकृति-लीनावस्था में किसी रूप से इसका स्पष्ट प्रकाश न होने पर भी, रूपविशिष्ट होकर प्रकाशित होने की उन्मुखता

उसमें वर्तमान रहती है, और यह अवस्था ही समस्त रूपों का बीजभाव है। अतएव नारायण की शयनावस्था-मात्र कह कर इसका वर्णन किया जाता है। परन्तु यह नारायणरूपमात्र ही ब्रह्म का पूर्णरूप नहीं है; इसके अतिरिक्त एक अमूर्त (प्रकाश के हेतु उन्मुख भाव पर्य्यन्त रहित) रूप भी ब्रह्म का है। शाङ्करिक मतानुकूल यही अमूर्त्तरूप ब्रह्म का एक मात्र रूप है; और यह रूप एकान्त निर्गुण, सर्वप्रकार से अनिर्देश्य है, वह केवल है बस इतना ही कहा जा सकता है, वह केवल 'सत्' मात्र है। परन्तु निम्बार्कीयगणों का सिद्धान्त यह है कि, वह अमूर्त्तरूप भी केवल 'सत्' मात्र और एकान्त निर्गुण नहीं है; इसमें भी सब शक्तियाँ वर्तमान हैं, वह सर्वज्ञ, चिदानन्दमय और सर्वशक्तिमान् है। इसके जान लेने से सभी मतों के समझने में सुविधा होगी। यह समालोचना इसी स्थान पर समाप्त की जाती है; इसे भली-भाँति समझ लेने पर सभी दर्शन-शास्त्रों को स्वयं समझ सकोगे।

विषयः—शङ्कराचार्य्य और रामानुज दोनों अवतार हैं, तब उनके मतों में भेद और भ्रम क्यों है ?

शिष्यः—लोक में प्रसिद्ध है कि, शङ्कराचार्य्य भगवान् शङ्कर के, और रामानुज स्वामी भगवान् अनन्तदेव के अवतार थे और अपने अपने सम्प्रदाय में वे इसी अवतार रूप से सम्मा-नित हैं। यह सत्य होने पर उनके मतों में कैसे भ्रम रह

सकता है ? एवं उनके मतों में जिस प्रकार का भेद दृष्ट होता है उसका सामञ्जस्य किसी प्रकार से स्थापित नहीं हो सकता । उनके अवतार होने से कैसे ऐसा हो सकता है ?

गुरु:—अवतार होने से ही सभी अभ्रान्त पूर्ण सत्यदर्शी हों, इसका कोई नियम नहीं । अवतार अनेक प्रकार के हैं । परशुरामदेव भगवदवतार थे, इसका वर्णन सभी शास्त्रों में है । किन्तु इनके सर्वज्ञ तथा तत्त्वदर्शी होने का कोई प्रमाण नहीं है । श्रीरामचन्द्रजी का तत्त्व भी उनको विदित नहीं था । रामायण में उल्लिखित है कि, श्रीरामचन्द्रजी के विवाह के पश्चात् जब वे घर लौट रहे थे, तब उनकी परीक्षा लेने के लिये और उनके साथ संग्राम करने के हेतु उद्यत होकर मार्ग ही में परशुरामजी श्रीरामचन्द्रजी पर आक्रमण करने के निमित्त गये । इसके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी के बल-वीर्य्य को देख कर उनको भगवदवतार करके पहिचाना । सर्वशास्त्रों में बुद्धदेव की भी गणना अवतारों में है परन्तु तदुपदिष्ट समस्त मत अभ्रान्त सत्य करके ग्रहण नहीं किये जाते । नर-नारायण उभय ऋषि भगवदवतार हैं, यह सभी शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित है, यही नर-ऋषि कुरुकुल में अर्जुन के रूप में अवतीर्ण हुये थे, एवं वृष्णिकुल में नारायण श्रीकृष्ण भगवान् के रूप में आविर्भूत हुये थे । श्रीकृष्ण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् थे, यह सर्ववादी सम्मत है, किन्तु अर्जुन भगवदवतार होते

हुये भी तद्रूप न थे, महाभारत के पाठ से इसमें कोई सन्देह नहीं रह सकता।

वास्तव में किस उद्देश्य से, किस कार्य के निमित्त, ईश्वरगण कौन अवताररूप ग्रहण करते हैं, इसका निरूपण करना सरल नहीं है। किसी किसी शास्त्र में ऐसा भी लिखित है कि, असुर लोगों को तत्त्वज्ञान से भ्रष्ट करके, उनकी बुद्धि को मोहित करने के अभिप्राय से, बुद्धावतार प्रकटित हुआ था। यह सत्य है अथवा मिथ्या, इसका विचार करना निष्प्रयोजन है, किन्तु भगवान् के समस्त कार्य्यों के गूढ़ अभिप्रायों का निश्चितरूप से अवधारण करना प्रायशः सम्भव नहीं होता, यह अवश्य स्वीकार्य है; सुतरां समस्त अवतार अभ्रान्त-सत्य-दर्शी अथवा सत्य तत्त्व प्रकाशक कह कर ग्रहण नहीं किये जा सकते। परशुराम, बुद्धदेव एवं अर्जुन के अवतारों के दृष्टान्त द्वारा यह सुस्पष्टरूप से अवगत होता है।

वास्तव में कौन पुरुष अवतार हैं कौन नहीं, एवं अवतार होने पर किसके अवतार हैं, यह भी उनके कार्य्य-कलाप देखने से कभी निर्णीत नहीं किया जा सकता। जिस किसी अवतार में जिस भाँति की शक्ति प्रकाशित हुई थी, प्रायः तदनुरूप अथवा कभी कभी तदधिक शक्ति भी सिद्ध ऋषियों ने समय समय पर प्रकाशित की है; शास्त्रों में इसका भी उल्लेख पाया जाता है। ज्ञानवत्ता के सम्बन्ध में भी यही बात है। सुतरां किसी शक्ति-प्रकाश प्रभृति कार्य्यदृष्टि से अवतार-

तत्त्व की अवधारणा नहीं होती। किस देह का आश्रय लेकर वे कौन कार्य सम्पादित करते हैं, इसके साक्षात् सम्बन्ध में दर्शन करने की शक्ति प्रज्ञानेत्र ऋषिगणों ही में विकसित है। वे ही जान सकते हैं कि, कौन किस देह के अवलम्बन से जन्म लेते हैं, और कौन किस देह को आश्रय करके कार्य साधन करते हैं। पातञ्जल योगसूत्र के कैवल्य पाद के चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ सूत्रों और उनके भाष्य में उल्लिखित है कि, सिद्ध महापुरुषों में इस प्रकार की शक्ति है कि, वे विभिन्न प्रकार के चित्त निर्माण कर एक ही काल में स्वयं विभिन्न देहों का अवलम्बन कर सकते हैं और उन विभिन्न देहों से विभिन्न प्रकार के कार्य उन देह-निष्ठ चित्तों के द्वारा सम्पादित कर सकते हैं। परन्तु इन समस्त विभिन्न चित्तों में उनकी सम्यक् शक्ति प्रकाशित नहीं होती। अतएव केवल बाह्यिक कार्य के देखने से किसी का अवतारत्व स्थिर नहीं किया जा सकता। एवं इसकी भी कोई स्थिरता नहीं है कि, अवतार होने पर ही वे अभ्रान्त सत्यदर्शी होंगे।

कभी कभी जनसमाज की अवस्था को देखकर, जब उसके बहुसंख्यक लोगों के मन में भगवदवतार का प्रयोजन उत्पन्न होने लगता है, तब अपेक्षाकृत अधिक शक्तिसम्पन्न किसी को देखकर उक्त प्रकार के भावाक्रान्त अनेक लोगों के मन में ऐसा सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि, भगवान् इस देह में अवतीर्ण हुये हैं; एवं और कुछ शक्त्याधिक्य का परिचय मिलने पर,

वे अपनी इच्छा के अनुकूल निश्चितरूप से इसकी धारणा कर लेते हैं कि भगवान् अवतीर्ण हुये हैं। जो लोग स्वभावतः इस प्रकार के शक्तिशाली होते हैं, उनके मन में भी कभी कभी इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि वे स्वयं अवतार हैं। जो लोग उच्चसाधक हैं उपास्य के साथ उनकी भी कभी कभी अभेदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है; इसी के कारण, अत्युत्साहवश वे भी अपने को उसी इष्टदेव का अवतार समझते हैं और दूसरों के समीप प्रकाशित भी करते हैं। आधुनिककाल में यथार्थ सर्वदर्शी ऋषिगणों का प्रकाश विरल है, इसी कारण बहुविध अवतारों की कल्पना से बहुविध सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है और होती है। वास्तव में इनमें से कोई ब्रह्मा, विष्णु अथवा महेश्वर के अवतार हैं कि नहीं, यह निश्चितरूप से निर्धारित करना साधारण मनुष्यों के लिये असम्भव है। अतएव अवतारत्त्व विषय में जब निश्चित शास्त्रीय प्रमाण नहीं दृष्ट होता, एवं अवतार होने पर भी जब उनके अभ्रान्त होने की निश्चयता नहीं है, तब श्रीमच्छङ्कराचार्य्य और श्रीमद्रामानुज के अतितीक्ष्णबुद्धिसम्पन्न होने पर भी, यहाँ तक कि उनके अवतार होने पर भी, शास्त्र-प्रमाण के अभाव से तथा शास्त्रप्रमाण-विरुद्ध होने से, उनके वाक्य ध्रुव सत्य कहकर ग्रहण नहीं किये जा सकते। अतएव उनके प्रचारित समस्त मतों में भी विरुद्ध-भाव का रहना विस्मयजनक नहीं है।

विषयः—ब्रह्मस्वरूप क्या है, और उनके लाभ करने का सर्वापेक्षा सरल उपाय क्या है, इसका संक्षिप्त वर्णन।

शिष्य—ब्रह्म-विद्या की नाना प्रकार से और विस्तृतरूप से व्याख्या की गई है। अब अति संक्षिप्त रीति से इस प्रकार वर्णन कीजिये जिससे ब्रह्म-स्वरूप की सरलता से धारणा कर सकें, और यह भी जानने की अभिलाषा है कि, भगवल्लाभ का अति सहज भजन क्या है।

गुरु—अच्छा, ब्रह्मस्वरूप और उसके लाभ का सरल उपाय अति संक्षेप में वर्णन किया जायगा।

(१) अनन्त प्रकार से अपने को अनुभव करने की शक्ति से सम्पन्न एवं (२) अनन्तरूप में अनुभूत (दृष्ट) होने की योग्यता से विशिष्ट जो (३) भूमा (अद्वैत, सर्वव्यापी) **आनन्दमय सद्वस्तु है, वही ब्रह्म है।** तत्त्वसमूह के स्फुरण के निमित्त इन संक्षिप्तोक्तियों का किञ्चित् विस्तृत रूप से नीचे वर्णन किया जाता है:—

(क) ब्रह्म आनन्दमय सद्वस्तु है, आनन्द ही उसका मूल-स्वरूप है।

(ख) परन्तु यह आनन्द चिच्छक्तियुक्त है। यह चिच्छक्ति इस प्रकार की है कि, तद्द्वारा अपने स्वरूपगत आनन्द को वह अनन्त रूप से **विषय** कर सकती है और नित्य ही करती रहती है।

(ग) इस आनन्द की भी अनन्त रूप से अनुभूत (दृष्ट, ज्ञात) होने की योग्यता नित्य वर्त्तमान है; और अपनी उक्त चिच्छक्ति के द्वारा वह नित्य अनुभूत (ज्ञात, दृष्ट) होता है।

(घ) (१) इस चिच्छक्ति के द्वारा एक भेदरहित आनन्द मात्र रूप से ब्रह्म अपने को जिस अवस्था में अनुभव करता है, और जिसमें उस आनन्द का कोई विशेष रूप स्फुरण नहीं है, उस अवस्था को ब्रह्म का पर-अमूर्त्त-रूप कहते हैं; यही "अक्षर ब्रह्म" नाम से श्रुतियों में उक्त हुआ है। "यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" इत्यादि श्रुतियाँ इसी अवस्था की प्रकाशक हैं। इसी अवस्था को लक्ष्य कर ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म कह कर उसकी व्याख्या की गई है।

(२) इसी चिच्छक्ति-द्वारा ब्रह्म अपने स्वरूपगत आनन्द को जिस अवस्था में अनन्तरूप-विशिष्ट रूप से सम्यक् दर्शन करता है, तब उसको ईश्वर कहते हैं—इसी ईश्वररूप को अपर-अमूर्तरूप कहते हैं। यही भूमा श्रुति प्रभृति की लक्ष्यीकृत अवस्था है; एवं इसी अवस्था में ब्रह्म भगवान् और वासुदेव शब्द-वाच्य है।

(३) इसी चिच्छक्ति की जिस अवस्था में निजस्वरूपगत आनन्द का अनन्त प्रकार के भोग्य अथवा भोगयोग्य-रूप से अनुभव (दर्शन) होता है, निजस्वरूपगत-रूप से नहीं दर्शन होता, उसी अवस्था के प्रति लक्ष्य करके ब्रह्म की महाविराट्,

अनन्तदेव, हिरण्यगर्भ इत्यादि आख्या होती है, यही उसकी तृतीय पर-मूर्त्त अवस्था है। स्वरूपगत आनन्द का जो भोग्यरूप में दर्शन है, यही हिरण्यगर्भ की जाग्रदवस्था है। और भोग-योग्यरूप मात्र में जो अनुभव है, वही उसकी शयनावस्था है, जिसे प्रकृति-लीनावस्था भी कहते हैं। इसी प्रकृति लीनावस्था में उसका नाम कारणाब्धिशायी नारायण है।

(४) इसी चिच्छक्ति की जिस अवस्था में ब्रह्म स्वीय स्वरूपगत आनन्द को विशेष विशेष रूपविशिष्टरूप से एवं इन्हीं विशेष विशेष रूपों को व्यष्टिभाव (असम्यक्भाव) से दर्शन करता है, तब उसे जीव कहते हैं। जिस अवस्था में जीव की अपनी चिन्मयता का स्फुरण वर्तमान रहता है, सुतरां वह विशेष दर्शनकारी चिन्मय आनन्दरूप में विराजमान रहता है, उस अवस्था को जीव की मोक्षावस्था कहते हैं। इसी अवस्था में वह पूर्वोक्त ईश्वर-सारूप्य लाभ करता है; ईश्वर सम्यक्-दर्शन-कर्त्ता है, जीव व्यष्टि-दर्शन-कर्त्ता है, केवल इतना ही प्रभेद है। जिस अवस्था में अपनी चिन्मयता का स्फुरण नहीं रहता, सुतरां तब अचेतन देहात्मबुद्धि-विशिष्टरूप से वह अवस्थित रहता है, तब उसे बद्धजीव कहते हैं।

(५) ब्रह्म का स्वरूपगत आनन्द उसकी चिच्छक्ति की जिस अवस्था में केवल भोग्य अथवा भोगयोग्य रूप में अनु-भूत (ज्ञात, दृष्ट) होता है, तब उसकी जगत् और अचेतन

संज्ञा होती है। इसी को ब्रह्म का प्रकाशभाव अथवा जगद्रूपता कहते हैं।

अतएव ब्रह्मस्वरूप युगपत् चतुष्पादविशिष्ट है:—(१) अचेतन जगत्, (२) व्यष्टिद्रष्टा (मुक्त और बद्ध) जीव, (३) (मूर्त्त और अमूर्त्त) ईश्वर, (४) अक्षर ब्रह्म। इन चतुष्पादों को श्रुतियों ने कभी विभिन्न करके और कभी एक साथ ही वर्णन किया है। श्वेताश्वेतर श्रुति ने प्रथमाध्याय के ७ म, ८ म और ९ म, वाक्यों में इन चतुष्पादों को अति परिष्कृत रूप से पृथक् पृथक् वर्णन किया है। इस उपनिषद् को विशेष मनोयोग के साथ पाठ करना चाहिये।

सरल भाषा में एतत्समस्त वर्णना का मिलित फल केवल यह है कि, ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, जीव और जगत् ब्रह्म के अंशमात्र हैं, उसके पूर्णाङ्ग के एक एक पाद हैं; ईश्वररूपी ब्रह्म इन दोनों का नियन्ता है; परन्तु ईश्वर के एतत् समस्त का नियन्ता होने पर भी, उसकी विभिन्नरूप-दर्शनवर्जित केवल चिदानन्दमय निर्गुणावस्था भी युगपत् वर्तमान है।

पूर्वोक्त ब्रह्मस्वरूप को हृदयङ्गम करने पर यह विषय सरलता से ज्ञात होगा कि, दृश्यमान सभी ब्रह्म है और तुम (साधक) ब्रह्म के अङ्गीभूत अंशमात्र हो, इसलिए तुम सम्पूर्ण रूप से तदधीन हो। अतएव (१) ब्रह्म ही तुम्हारी आत्मा है, और तुम सम्पूर्ण रूप से तदधीन दास-मात्र हो; इस प्रकार के

ज्ञान में अवस्थित होकर (२) समस्त जगत् और जागतिक जीवों को ब्रह्म ही का प्रकाशभाव-मात्र समझ कर, अतएव सर्वत्र अदोषदर्शी होकर--(३) ब्रह्मबुद्धि से पिता, माता, स्त्री, पुत्र, भृत्य, दास प्रभृति सभी की यथासम्भव सेवा में नियुक्त होकर, (४) तुम निर्लिप्त भाव से कालयापन करना। यही ब्रह्मलाभ का सहज और प्रकृष्ट उपाय है। परन्तु सद्गुरु के आश्रय बिना ऐसी निर्मलता स्वयं उपजात नहीं होती।

अथवा उपरोक्त भाव का यथासम्भव स्मरण रख वर्तमान ब्रह्माण्डस्थ समस्त जीवों का सर्वविध साधारण कल्याण साधन एवं विशेषरूप से मोक्षानन्द प्रदान करने के हेतु, जिस श्रीकृष्ण-विग्रह को अवलम्बन कर ब्रह्म प्रकाशित हुआ है, उन्हीं में सर्वान्तःकरण से आत्मसमर्पण कर उनके स्वरूप का ध्यान, सद्गुरुदत्त उनका नाम जप और समस्त कर्म्म उनके हेतु दास-भाव से सम्पादित कर, तद्गत चित्त हो, जो कालयापन करता है, वह शीघ्र ही समस्त कल्याण लाभ कर मोक्षाधिकारी होता है।

परन्तु जो इस भाव को भी हृदयङ्गम करने में समर्थ नहीं है, उसे मोक्षार्थी होने पर यदि भाग्य-क्रम से सद्गुरु प्राप्त हो जायँ, तब उनमें सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण पूर्वक निजसाधनादि और धर्म्माधर्म्म विचार छोड़कर, आलस्यरहित और निर्लिप्तभाव से केवल उन्हीं का आदेश पालन करना चाहिये,

इस बुद्धि से यदि आदिष्ट कार्य करते हुये कालक्षेप किया जाय, तो उसी से भवबन्धन से मुक्ति और शान्तिलाभ किया जा सकता है।

ओ३म् तत्सत्।